PAGES MISSING WITHIN THE BOOK ONLY

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180773

UNIVERSAL
LIBRARY

JP—43—30-1-71—5,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H.928 M67H Accession No. H.2870

Author मिश्र, रामनारायण

Title हमारे प्रमुख साहित्यकार

This book should be returned on or before the date last marked below.

हमारे प्रमुख साहित्यकार

[संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण]

लेखक—
श्री रामनारायण मिश्र एम० ए०
(हिन्दी तथा संस्कृत)

विनोद पुस्तक मन्दिर
हॉस्पिटल रोड, आगरा

प्रकाशक—
विनोद पुस्तक मन्दिर,
हॉस्पिटल रोड, आगरा।

[सर्वाधिकार प्रकाशक के आधीन]
तृतीय संस्करण मई—१९५७
मूल्य १॥)
अथवा १) रु० और नये पचास पैसे

मुद्रक—राजकिशोर अग्रवाल, कैलाश प्रिंटिंग प्रेस,
बाग मुजफ्फरखाँ, आगरा।

विषय-सूची

१	भूमिका	१
	वीरगाथा काल	६
२	महाकवि चन्द्रवरदाई	११
३	महाकवि विद्यापति	१४
	भक्ति-काल	२१
४	महात्मा कबीर	२५
५	मलिक मुहम्मद जायसो	३७
६	महाकवि तुलसीदास	४५
७	महाकवि सूरदास	५३
८	नन्ददास	६४
९	मीराबाई	७०
१०	रसखान	७७
११	नरोत्तमदास	८३
	रीतिकाल	८९
१२	आचार्य केशवदास	९२
१३	कविवर भूषण	९६
१४	महाकवि बिहारी	१००
१५	महाकवि देव	१०५
१६	पद्माकर	१०९
	आधुनिक-काल	११५
१७	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	१२०
१८	जगन्नाथदास 'रत्नाकर'	१२५

१९ अयोध्यासिंह उपाध्याय १३१
२० रामनरेश त्रिपाठी १३७
२१ जयशंकर प्रसाद १४१
२२ सुमित्रानन्दन पंत १४६
२३ महादेवी वर्मा १५०
२४ सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' १५५
२५ सुभद्रा कुमारी चौहान १५८
२६ रामकुमार वर्मा १६२
२७ रामधारीसिंह 'दिनकर' १६६
२८ श्यामनारायण पाण्डेय १७०
२९ मैथिलीशरण गुप्त १७५
३० प्रतापनारायण मिश्र १८६
३१ बालकृष्ण भट्ट १९०
३२ महावीर प्रसाद द्विवेदी १९५
३३ बाबू श्यामसुन्दरदास २००
३४ पं० रामचन्द्र शुक्ल २०५
३५ बाबू गुलाबराय २११
३६ मुन्शी प्रेमचन्द ११५

भूमिका

हिन्दी का आदिकाल वीरगाथा काल से माना जाता है। उस समय भारत पारस्परिक मनोमालिन्य से ग्रसित था, पारस्परिक फूट झंझा-वात की भाँति उनका अस्तित्व समूल नष्ट करने के लिए तुली हुई थी। उसी समय मुसलमानों के आक्रमणों ने भी भयानक आतंक फैला दिया था। सर्वत्र ही अशान्ति का वातावरण था। इस संक्रमण काल में भी कुछ सच्चे स्वदेश भक्त अपने देश के संरक्षण में जुटे हुये थे। कवि अपने समय का प्रतिनिधि होता ही है। अतएव तत्कालीन चारण-भाट भी अपने-अपने आश्रय-दाताओं के गुण-गान करने लगे, और वीर-रस-पूर्ण कविता द्वारा उनके हृदय में वीर रस का संचार करने लगे। यही कारण है कि प्रारम्भिक युग की कविता इसी प्रकार के वीर-रस से परिपूर्ण है। उसमें स्वदेश प्रेम भी पूर्ण मात्रा में है। सातवीं शती से तेरहवीं शती तक इसी प्रकार का वातावरण रहा। समय के परिवर्तन से कलहपूर्ण अशान्त वातावरण कुछ शान्त हुआ, और सन्तप्त एवं उद्विग्न प्रजा ने कुछ ठण्डी साँस ली। हमारा हिन्दी साहित्य भी इसी कालक्रम के अनुसार विभाजित है। वह भिन्न-भिन्न सामाजिक और राजनीतिक विचार-धाराओं से पूर्णतया प्रभावित है। संक्षेप में उसका विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है :—

(१) वीरगाथा काल अथवा आदिकाल—संवत् १०५० से १३७५ वि० तक।

(२) भक्तिकाल अथवा पूर्वमध्यकाल—सम्वत् १३७५ से १७०० वि० तक।

(३) रीतिकाल अथवा उत्तर मध्यकाल सम्वत् १७०० से १९०० वि० तक।

(४) आधुनिक काल—सम्वत् १९०० विक्रमी से अब तक।

इसी आधुनिक काल में ही हमारा गद्यकाल भी समाविष्ट है।

वीरगाथा काल——यह काल युद्ध के वातावरण से परिपूर्ण था। समाज का जीवन ही युद्धमय हो रहा था। तब कवि-हृदय उस दिशा में क्यों न जाता ? उसने भी वीर रस-पूर्ण कविताएँ कीं और अपने-अपने आश्रयदाताओं के हृदय में वीर-रस का संचार किया। कवियों ने उनके पराक्रम-पूर्ण चरित्र का वर्णन किया। यही परम्परा उस समय रासो कहलायी। पृथ्वीराजरासो, खुमान रासो, वीसलदेव रासो आदि रचनाएँ इसी परम्परा का अनुगमन करती हैं। इस काल की कविता का मुख्य विषय शौर्य एवं शृङ्गार था। इस प्रकार इस युग की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

(१) आश्रयदाताओं की अतिशयोक्ति पूर्ण प्रशंसा।

(२) उनके युद्धों का सुन्दर एवं चित्रमय वर्णन।

(३) वीर रस का वर्णन, तथा उसके साथ-साथ शृङ्गार का भी समुचित वर्णन-क्योंकि कुछ राजा युद्ध से विश्राम लेकर शृङ्गार की ओर आकृष्ट होने लगे थे।

(४) कल्पना की प्रधानता।

(५) कवित्व पूर्ण वर्णन—इसके लिये कहीं २ पर ऐतिहासिक तथ्यों तक को कवित्व के आवरण से आच्छन्न कर देना।

भक्तिकाल——दीर्घकालीन युद्धों के उपरान्त देश में मुसलमानों का आधिपत्य स्थापित हो गया। इधर हमारे देशी राजाओं की शक्ति भी क्षीण हो गई। इस प्रकार असहाय प्रजा को आश्रय देने वाला, उसका संरक्षण करने वाला कोई न रहा। अतएव उसकी कारुणिक पुकार दयामय भगवान की शरण में जाने लगी। वह भगवान की भक्ति में लग गई। एक कारण और भी था। वज्रयानी सिद्ध, कापालिक, नाथ-पंथी जोगी तथा ऐसे ही अनेक सम्प्रदाय जनता की धार्मिक भावना को कुचलने लगे थे, वे उसको आत्म-कल्याण और विश्व-कल्याण के सच्चे

मार्ग की ओर तो ले नहीं गये अपितु, कर्मक्षेत्र से ही विरत करने में लग गए। इससे उसकी निराशा और भी अधिक बढ़ गयी। इसी निराशा ने हमारे भक्ति-साहित्य को जन्म दिया। हमारी सन्तवाणी इसकी परिचायक है।

यह भक्ति-काल भी दो भिन्न २ शाखाओं में विभक्त हो गया :—

१—निर्गुण शाखा। २—सगुण शाखा।

निर्गुण-शाखा के प्रधान कवि हमारे सन्त कवि थे। उन्होंने अपनी पूत वाणी से निराश जनता का सम्यग पथ-प्रदर्शन किया। हिंदुओं की मूर्ति-पूजा और मुसलमानों की एकेश्वरवादिता परस्पर वैमनस्य का कारण बन रही थीं। हमारे सन्त कवियों ने इस विद्वेष को मेटने केलिए यथा-शक्ति प्रयत्न किया। कबीर, दादू, रैदास, मलूकदास आदि ऐसे ही सन्त कवि थे। उनकी कविता उपदेशात्मक है। उनकी भाषा सरल-सुबोध और आडम्बरहीन है। उपदेश की दृष्टि से वह पूर्ण-रूपेण सफल सिद्ध हुई है, उन्होंने मूर्त्ति-पूजा तथा समाज में प्रचलित अन्य कुप्रथाओं को भी दूर करने के लिये सफल प्रयास किया। इस प्रकार वे हमारे सच्चे सुधारक थे। वे हमारी आन्तरिक वृत्तियों के सुधारक थे।

उसी समय कुछ सूफी फकीरों ने कल्पित और ऐतिहासिक कहानियों में लौकिक प्रेम के आवरण में पारलौकिक ईश्वरीय प्रेम का वर्णन किया। उनका यह वर्णन रहस्यवाद से परिपूर्ण है। इन मुसलमान कवियों ने अधिकतर हिंदू गाथाओं का ही आश्रय लिया। उनकी भाषा अधिक अंशों में अवधी है। उन्होंने दोहा-चौपाइयों में अपने काव्य की रचना की। कुतुवन, मन्झन, जायसी आदि इस धारा के प्रमुख कवि हैं।

हमारे संत कवियों के निर्गुणोपदेश से जनता भटकने से तो बच गयी, किंतु उसका पर्याप्त पथ-प्रदर्शन न हो सका। वह निराकार के निविड़तम में इतस्ततः भटकती ही रही। इसी समय कुछ महात्माओं ने भगवान के लोकरंजनकारी रूप की कल्पना करके भटकती हुई उस जनता को साकार उपासना का उपदेश दिया। इससे उसे पर्याप्त सान्त्वना

मिली। सर्व-प्रथम रामानुजाचार्य इस क्षेत्र में आगे बढ़े, तदुपरान्त उनके अन्य शिष्य तथा दूसरे साधु कवि-गण भी इसी मार्ग पर चल पड़े। सूर-दास ने भगवान का मनमोहक बालरूप दिखला कर उदास जनता के उद्विग्न मन को शांति प्रदान की। सूर की सरसता से उन्हें पर्याप्त सांत्वना मिली। उनके हृदय में नवीन आशा का संचार हुआ, और वे सच्चे हृदय से भगवान की भक्ति में लग गये। सूरदास, नन्ददास, कृष्णदास, परमानन्द, मीराबाई आदि ने कृष्ण-भक्ति का वर्णन किया। उन्होंने ब्रजभाषा को अपनाया। तथा राममार्गी भक्त कवियों ने अवधी को। उन्होंने मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान श्रीरामचन्द्रजी के लोकरंजनकारी रूप का वर्णन करके मानवजीवन की प्रायः सभी परिस्थितियों का विशद वर्णन किया। गोस्वामी तुलसीदास ने राम के इसी रूप की चरम अभि-व्यक्ति की।

रीतिकाल—भगवान की भक्ति के प्रवाह में कुछ शृङ्गार की भी सरसता आने लगी। हमारे राजा-महाराजा भी शृङ्गार एवं भोगविलासों में लिप्त रहने लगे। कृष्ण-काव्य के रचयिताओं में यह शृङ्गारी भावना चरम-सीमा पर पहुंच गयी। कृष्ण और राधा के रूप-प्रेम वर्णन में अश्लीलता भी आने लगी। कवि-गण तो केवल नख-शिख का वर्णन और नायिकाओं के हाव-भाव के वर्णन में सब कुछ समझने लगे। एक बात और भी है। भगवान की भक्ति में निमग्न कवि-गण काव्य के नियमादि की तनिक भी चिन्ता नहीं करते थे, इसी से काव्य का रूप भी कुछ-कुछ विकृत होने लगा था। इसी से कुछ विद्वानों ने उसे विच्छृ-ङ्खलता से बचाने के लिए तत्सम्बधी नियमों का विधान किया। अल्प-काल ही में सभी कविगण अपने आपको नियामक बनाने का प्रयत्न करने लगे और लक्षण-ग्रन्थ लिखकर आचार्यत्व की पदवी प्राप्त करना उनका प्रधान लक्ष्य हो गया। इस प्रकार यह युग इसी रीति से सम्पन्न हुआ। इसी से इसे रीतिकाल कहते हैं। इस युग के कवियों में केशव, भूषण, बिहारी, देव, मतिराम अधिक प्रसिद्ध हैं। इन्होंने रस,

अलङ्कार आदि काव्याङ्गों की स्पष्ट व्याख्या करके छन्द, कवित्त, सवैयों में उनका समुचित प्रयोग भी किया है। इस युग में भूषण, लाल, आदि दो-एक वीर-रस के भी कवि हुए, किंतु प्रधानता शृङ्गार रस की ही रही। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि रीति-काल कविता तथा उसकी भाषा-शैली के सुधार का युग था। इस युग में उसका पर्याप्त सुधार हुआ भी। इतना अवश्य है कि इस सुधारवादी आन्दोलन में कलापक्ष ही प्रधान रहा।

आधुनिककाल—यह युग भारतेन्दु के आविर्भाव से प्रारम्भ होता है। सम्वत् १८०० विक्रमी के उपरान्त यूरोप की कई जातियाँ व्यापार आदि के लिए यहाँ आईं। उन्होंने यहाँ हमसे सम्पर्क स्थापित करके व्यापार आदि के बढ़ाने का प्रयत्न किया। उस समय हमारे राजाओं में फूट फैली हुई थी। इससे उन्होंने लाभ उठाया। शनैः शनैः वे अपने पैर जमाने लगे। हम देखते हैं कि भारत में ब्रिटिश-साम्राज्य की स्थापना का भी मूल कारण यही फूट है। उन्होंने हमसे मिलकर हमी ही पर शासन किया। शासन के सम्यक् संचालन के लिए बोलचाल की भाषा की भी अधिक आवश्यकता प्रतीत हुई। इस कार्य के लिए गद्य अधिक उपयुक्त होती है। अतएव हमारी गद्य परंपरा इसी युग से चली। इसी युग में मुद्रण-कला का भी आविष्कार हुआ। इसने भाषा के विकास में पर्याप्त योग दिया। इसी युग में स्वामी दयानन्दन सरस्वती ने भी हिंदी को ही राष्ट्र-भाषा मानकर उसी में अपने धार्मिक ग्रन्थों की रचना की। इधर अङ्गरेज मिशनरियों ने भी अपनी प्रचार-पुस्तकें हिन्दी गद्य में ही छपवाईं। इस प्रकार विभिन्न मतों के प्रचारकों ने भाषा का समुचित विकास किया।

विदेशियों के आने से उनकी राजनीति एवं सामाजिक व्यवस्था से भी हमारा सम्पर्क हुआ। इधर राष्ट्रीयता का भी विकास हुआ। इस राष्ट्रीय-भावना के चरमोत्कर्ष के लिए शृङ्गारी ब्रजभाषा सर्वथा अनुपयुक्त समझी गयी। अतएव आवश्यकतानुसार खड़ी बोली का जन्म

हुआ और समय की प्रगति के साथ उसके गद्यात्मक एवं पद्यात्मक दोनों ही रूपों में पर्याप्त विकास हुआ। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने इसके दोनों ही रूपों को सुधारने एवं उसे सम्पन्न बनाने के लिए यथाशक्ति प्रयत्न किया।

समय को प्रगति एवं आवश्यकता के अनुसार हमारा आधुनिक युग भी विभिन्न धाराओं में विभक्त होगया। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने अपनी चतुर्मुखी शैली द्वारा साहित्य की सम्यक सम्वर्धना की। इस युग के प्रारम्भ में ब्रजभाषा में ही काव्य-रचना हुई, किन्तु जब उससे आवश्यकता की पूर्ति न हुई तो भाषा के क्षेत्र में खड़ी बोली का विकास किया गया। राजा लक्ष्मणसिंह, भारतेन्दुबाबू हरिश्चन्द्र, जगन्नाथ दास रत्नाकर, श्रीधर पाठक, रामचन्द्र शुक्ल, ब्रजभाषा के प्रसिद्ध कवि थे। भारतेन्दु बाबू हरिचन्द्र ने गद्य का समुचित विकास किया। महावीर-प्रसाद द्विवेदी ने इसी गद्य को प्रांजल रूप दिया। इस क्षेत्र में उनके सभी प्रयास पूर्णरूपेण सराहनीय हैं। उनके युग में अन्य कवियों ने भी अपनी सुललित लेखनी से अनेक प्रकार के काव्यों की रचना की। इन कवियों में मैथिलीशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय, गयाप्रसाद शुक्ल सनेही प्रमुख है। इसके अतिरिक्त अयोध्यासिंह उपाध्याय, नाथूराम-शर्मा शंकर, लाला भगवानदीन, रामनरेश त्रिपाठी, जयशंकर प्रसाद, गोपालशरणसिंह, माखनलाल चतुर्वेदी, सियारामशरण गुप्त, अनूप शर्मा, रामकुमार वर्मा, श्यामनारायण पाण्डे, रामधारीसिंह दिनकर, सुभद्राकुमारी चौहान, महादेवी वर्मा आदि कवि विशेष प्रसिद्ध हैं। इसी युग में छन्द पद्धति में भी परिवर्तन हुआ। नए-नए छन्दों का आविर्भाव हुआ, जिनसे कविता का रूप और भी अधिक समलंकृत हो गया।

इस युग में गद्य-निबन्ध, नाटक, उपन्यास, कहानी का भी पर्याप्त विकास हुआ है। इसी युग में समालोचनाएँ भी लिखी गईं, रामकुमार वर्मा, रामचन्द्र शुक्ल आदि ने आधारभूत तुलनात्मक समालोचनाओं की नींव डाली। उनकी समालोचनाएँ विश्वसाहित्य में भी अपना

महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। इस युग के प्रसिद्ध साहित्यकार निम्न-लिखित हैं—

कहानी लेखक—प्रेमचन्द, विनोदशंकर व्यास, प्रसाद, पन्त, निराला, कौशिक, सुदर्शन, जी० पी० श्रीवास्तव, जैनेन्द्र, हृदयेश, सुदर्शन आदि।

उपन्यास लेखक—प्रेमचन्द, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, प्रसाद, उग्र, हृदययेश, जैनेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा, वृन्दावनलाल वर्मा, गुरुदत्त आदि।

नाटक लेखक—प्रसाद, सेठ गोविन्ददास, गोविन्दवल्लभ पन्त, लक्ष्मीनारायण मिश्र, उदयशङ्कर भट्ट, रामकुमार वर्माँ आदि।

इस प्रकार हम संक्षेप में कह सकते हैं कि आधुनिक युग में हिन्दी के सभी अङ्गों का समुचित विकास हो रहा है। हमारे कुशल कर्णधार उसके सर्वाङ्गीण विकास में लगे हुए हैं। आशा है कि हमारा हिन्दी साहित्य शीघ्र ही सर्वगुण सम्पन्न हो जायेगा।

वीरगाथा-काल

हिन्दी साहित्य का प्रारम्भिक काल सम्वत् १०५० विक्रमी से सम्वत् १३७५ विक्रमी तक माना जाता है। यह एक प्रकार से संक्रान्ति युग था। सर्वत्र ही रणचण्डी की प्रखर लपटों से हाहाकार मचा हुआ था। भारतीय नरेशों में आपस में भी फूट पड़ गयी थी, यह देखकर मुसलमानों ने भी आक्रमण प्रारम्भ कर दिये थे। इस प्रकार उस समय भारत की दशा अत्यन्त शोचनीय हो गयी थी। वे सर्वत्र लूट-मार करने एवं नाना प्रकार के अत्याचार करने लगे थे। हमारे वीर, सच्चे देशभक्त एवं वीर राजपूत उनसे डटकर लोहा ले रहे थे। इसप्रकार वह समय वीरता और गौरव का था। भारत में एक ओर तो पारस्परिक कलह थी दूसरी ओर गजनी और गौरी के सतत आक्रमण हो रहे थे। इससे भारतीय राजपूतों की शक्ति क्षीण होने लगी और मुसलमानों के पैर जमने लगे।

इस प्रकार हिन्दी का प्रारम्भिक युग युद्ध का युग था। उससे हमारा साहित्य पूर्ण-रूपेण प्रभावित हुआ। हमारे कवियों की लेखनी भी अपने अपने आश्रयदाताओं के वीर-रसोत्कर्ष में ही अधिक सहायक हुई। उन्होंने अपने आश्रयदाताओं के कार्यों का बड़ा ही सुन्दर एवं वीरतापूर्ण वर्णन किया। उनकी ये वीर-गाथाएं दो भिन्न रूपों में हमारे सामने आयीं। एक प्रबन्ध काव्य के साहित्य रूप में और दूसरी मुक्तक गीतों के रूप में। खुमान रासो, बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो, आल्हखण्ड आदि प्रसिद्ध खण्ड काव्य तत्कालीन परिस्थिति के परिचायक हैं। उनमें युद्धों का अतिरंजित वर्णन है।

इस प्रकार वीरगाथा काल की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :—

१—आश्रयदाताओं की प्रशंसा।

२—वीर रस के साथ शृंगाररस का भी अतिरंजित वर्णन ।

३—वीर रस में वीरता की सच्ची भावना के वर्णन की अपेक्षा युद्धों का ही विशद वर्णन।

४—काव्य में कल्पना की प्रधानता।

५—ऐतिहासिक सामग्री होते हुए भी उसमें ऐतिहासिक तत्व की अपेक्षा काव्य की अधिक मात्रा ।

६—छन्दों में दूहा, तोमर, त्रोटक, गाथा, आदि और कवित्त तथा छप्पय का अधिक प्रयोग।

महाकवि चन्दवरदाई

सामान्य परिचय—महाकवि चन्दवरदाई हमारे प्रथम महाकवि माने जाते हैं। उनका पृथ्वीराज रासो हिन्दी का प्रथम महाकाव्य है। यह भाट जाति के थे। बेण उनके पिता थे तथा गुरुप्रसाद गुरु थे। अजमेर के चौहान उनके पूर्वजों के यजमान थे। चन्द का जन्म लाहौर नगर में हुआ था। उन्होंने अपने जन्म के विषय में अपने ग्रन्थ में कहीं पर भी स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। इसी से उनके जन्म से संबंध रखने वाली अनेक किम्वदन्तियाँ चलने लगी हैं। कहा यह जाता है कि चन्द और उनके आश्रयदाता महाराज पृथ्वीराज दोनों एक ही दिन इस धरा-धाम पर अवतीर्ण हुए थे। ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर महाराज पृथ्वीराज का जन्म संवत् १२०५ विक्रमी माना जाता है। अतएव यही संवत् हम चन्द के जन्म का भी मानते हैं।

महाकवि चन्द महाराज पृथ्वीराज के राजकवि थे। वह एक कुशल सेनानायक तथा सफल मन्त्री भी थे। वह स्वयं भी अनेक युद्धों में पृथ्वी-राज के साथ गये और अपने अपूर्व कौशल से सभी सेनानायकों को चमत्कृत किया। अपने इस पराक्रम प्रदर्शन के साथ-साथ उन्होंने अपनी ओजस्विनी वाणी से अपने आश्रयदाता के अङ्ग-प्रत्यङ्ग में वीररस का संचार किया। इस प्रकार वह हमारे आदर्श कवि और योद्धा भी थे। वह षड्भाषा व्याकरण, साहित्य, छन्दशास्त्र, ज्योतिष, वैद्यक, सङ्गीत आदि कई विद्याओं में पूर्ण पारंगत थे।

महाकवि चन्द की मृत्यु तिथि भी अनिश्चित सी है। रासो के अनु-सार उनका देहावसान संवत् १२४९ विक्रमी में पृथ्वीराज के साथ-साथ गजनी में हुआ था।

"इक्क दीह उपन्न इक्क दीहै समाय क्रम्म ॥"

के अनुसार भी पृथ्वीराज और चन्द की जन्म-मृत्यु की एक ही तिथि है। ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर पृथ्वीराज की मृत्यु संवत् १२४६ विक्रमी माना जाता है। अतएव महाकवि की भी मृत्यु तिथि यही मानी जाती है।

रचनाएँ—महाकवि चन्द ने पृथ्वीराज रासो नाम का एक अति विशाल ग्रन्थ बनाया। इसमें महाराज पृथ्वीराज के जीवन-चरित्र का वर्णन किया गया है। कहा तो यहाँ तक जाता है कि इसमें एक लाख से भी अधिक छंद है, किंतु अधिक खोज करने के पश्चात् यह स्पष्ट हो गया है कि उसमें आधे से भी अधिक प्रक्षिप्ताँश हैं। यह ग्रन्थ ढाई हजार पृष्ठों का है। इसमें ६६ समय (सर्ग) हैं। इसका पूर्वार्द्ध चन्द ने स्वयं लिखा तथा उत्तरार्द्ध उसके पुत्र जल्हण ने पूरा किया।

आदि अन्त लगि वृत्ति मन, ब्रन्नि गुनी गुनराज।
पुस्तक जल्हण हत्थ दै, चले गज्जन नृप काज ॥

भाषा—चंद की भाषा अधिकाँश डिंगल है। उसमें संस्कृत, प्राकृत अपभ्रंश आदि अनेक भाषाओं का सुन्दर मिश्रण है। उसमें स्थान-स्थान पर अरबी, फारसी और तुर्की के शब्द भी अधिक रूप में देखने को मिलते हैं। कहीं-कहीं तो उसमें अत्यन्त प्राचीन रूप दिखलाई पड़ता है तो कहीं-कहीं पर आधुनिक रूप भी दिखलाई पड़ता है जो उसको प्राचीन सिद्ध करने में बाधक हो जाता है। बाबू श्यामसुन्दरदास जी ने तो उसे डिंगल न मान कर पिंगल ही माना है। रासो की भाषाओं के सम्बन्ध में महाकवि चंद ने स्वयं कहा है—

"उक्ति धर्म विशालस्य राजनीति नवं रसं।
षड्भाषा पुरान च कुरानं कथितं मया ॥"

भिखारीदास ने षड्भाषा के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है।

ब्रज मागधी मिले अमर नाग यमन बखानि।
सहज पारसी हूँ मिले षट् बिधि करत बखानि ॥

इस प्रकार रासोकार ने छः भाषाओं का प्रयोग किया है। भाषा के क्रमिक विकास की दृष्टि से इसके तीन स्तर किये जा सकते हैं। प्रथम भाषा का प्राचीन रूप जिसमें अपभ्रंश और प्राकृत की छाया अपेक्षाकृत अधिक है।

नमः संभववाय सरब्बाय नमो रुद्दयामं वरद्दय.सायं ।।

इस प्रकार की भाषा में संस्कृत शब्द प्राकृत और अपभ्रंश रूप में हैं। द्रुग्ग, अभग्ग, सायद्र, आदि ऐसे ही शब्द हैं।

भाषा का दूसरा रूप मध्यकालीन विशेषताओं से युक्त है। इसमें शब्द योजना भी मधुर है।

"मनहु कला ससभाँन कला सोलह सो विन्नय।
बाल बस ससि ता समीप अमित रस पिन्नय ।।"

भाषा का तीसरा रूप आधुनिकता से युक्त है—

"एक पहुर में साँवत प्यारे, लोक हजार पाँच तहँगारे।
.....बारे लोक हजार अठारा,
सखियन संग खेलत फिरत महलनि बाज निवास।।"

भाषा के इन विविध रूपों के साथ ही उसमें उर्दू, फारसी, तुर्की, आदि शब्दों की भी बहुलता है।

'हसम हयग्गय देस अति। . . . . . .
कहियत मालनि मिहरवान . . . . . .'

रासो वीर रस प्रधान है, साथ ही उसमें शृंगार आदि अन्य रसों का भी बड़ा ही सुन्दर परिपाक हुआ है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि महाकवि चन्द हिन्दी के आदिकाल के उच्चकोटि के कवि थे। उन्होंने अपनी सुललित लेखनी से रासो का निर्माण करके एक विशेष महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इसी से उनका नाम हिन्दी साहित्य में अमर रहेगा।

महाकवि विद्यापति

जीवन परिचय— प्राचीन कवियों की भाँति महाकवि विद्यापति ने भी अपने विषयों में कुछ भी संकेत नहीं दिया है। इसी से उनके जन्म-मृत्यु का समय भी विवाद की एक समस्या बन रहा है। अतएव इस विषय में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। कुछ प्रमाणों के आधार पर उनका जन्म २३२ लक्ष्मणाब्द माना जाता है, लक्ष्मणाब्द और ईसवी सन् में १११० वर्ष का अन्तर है। कुछ अन्य पुष्ट प्रमाणों के आधार पर यह कहा जाता है कि मैथिल कोकिल श्री विद्यापति का आविर्भाव संवत् १४१७ विक्रमी के लगभग दरभंगा के उत्तर में स्थित कमतौल के पास विसपी नामक ग्राम में हुआ था। विद्यापति के पिता का नाम गणपति ठाकुर था। यह राजा गणेश्वर के राजमंत्री थे। वह अपने समय के प्रकाण्ड पण्डित थे। उन्होंने 'गंगा भक्ति तरंगिणी' की रचना की जिससे तत्कालीन सभी विद्वन्मण्डली उनकी ओर आकृष्ट हो गयी। महाकवि विद्यापति भी उन्हीं के समान प्रखर बुद्धि वाले थे। वह राजा शिवसिंह के राजकवि थे। राजा ने उन्हें विसपी गाँव उपहार में भेट किया था। उन्होंने भी अपने आश्रयदाता तथा उनकी रानी लक्ष्मीदेवी के सम्बन्ध में असाधारण पदों की रचना करके उन्हें पूर्णतया मुग्ध कर लिया था। इसी से वह उनकी कृपा के पात्र हो गये थे। उन्होंने उन्हीं की संरक्षता में रहकर अपनी असाधारण उत्कृष्ट पदावली की सृष्टि की। उनकी यह रचना हिन्दी साहित्य में अद्वितीय है।

महाकवि विद्यापति के जन्म समय के समान ही उनकी मृत्यु संवत् भी विवादास्पद है। जनश्रुति के आधार पर विद्यापति राजा शिवसिंह से २ वर्ष बड़े थे और उनके राज्याभिषेक के समय वह ५० वर्ष के थे। अतएव उस समय विद्यापति ५२ वर्ष के होंगे। शिवसिंह की मृत्यु के ३२ वर्ष उपरान्त उन्होंने स्वप्न में शिवसिंह को गौर वर्ण में देखा—

"सपन देखल हम सिवसिंघ भूप।
बतिस बरस पर सामर रूप॥

बहुत देखल गुरुजन प्राचीन।
अब भेलहु हम आयु बिहीन ।।"

यह स्वप्न रात्रि के अन्तिम प्रहर में देखा था, जो १५ दिन के भीतर फलित होना चाहिये। इसके अनुसार लक्ष्मणाब्द ३२९ के आठ महीनों में उनका देहावसान हुआ होगा। इस विषय में इतना और सुना जाता है।

"कातिक धवल त्रयोदशि जानि।
विद्यापतिक आयु अवसान ।।"

इसी के अनुसार कार्तिक शुक्ल १३ को विद्यापति की जयंती मनाई जाती है।

एक किम्वदन्ती और है। अपनी मृत्युबेला सन्निकट जानकर विद्यापति अपने सम्बन्धियों से विदा होकर गंगा तट की ओर चल दिए किन्तु मार्ग में ही सन्ध्या हो गई और वह वहीं पर ठहर गये और कहने लगे कि जब मैं वृद्ध होते हुए भी इतनी दूर तक आ गया हूँ तो क्या गंगा जी मुझ से भेंटने के लिए थोड़ी भी दूर नहीं आवेंगी। कहा यह जाता है कि गंगा जी अपनी धारा छोड़कर वहाँ आ गयीं और आज भी उसी तिरछे रूप में बह रही हैं।

रचनाएँ—महाकवि विद्यापति ने सँस्कृत, अपभ्रंश तथा मैथिली में अपनी सरस रचनाएँ की हैं।

शैल सर्वस्व सार, शैल सर्वस्व सार प्रमाण, भूत पुराण संग्रह, भूपरिक्रमा, पुरुषसमीक्षा, लिखनावली, गंगा वाक्यावली, विभाग सार, गया पत्तनक, वर्णकृत्य, दुर्गाभक्ति तरंगिणी आदि संस्कृत ग्रन्थ हैं। उन्होंने कीर्तिलता और कीर्तिपताका अवहट्ट में तथा पदावली मैथिली में लिखी।

काव्य साधना—महाकवि विद्यापति शौर्य-युग में अवतीर्ण हुए थे, किन्तु अपने आश्रयदाता की तत्कालीन विचारधारा से भिन्न शृंगारी होने के कारण विद्यापति भी शृंगारी कवि बन गये। उनकी कविता में

अपूर्व सरसता, माधुर्य एवं पाण्डित्य है। उनकी जैसी सरसता साहित्य के अन्य कवियों में नहीं मिलती है। अपनी इसी सरसता एवं माधुर्य के कारण वह मैथिल-कोकिल कहलाये। राधाकृष्ण के माधुर्य-भाव निरूपण में संस्कृत में जयदेव अप्रतिम है। हिन्दी में भी राधाकृष्ण के आमोद-प्रमोद तथा संयोग-वियोग का निरूपण विद्यापति से पूर्व किसी भी कवि ने नहीं किया। उनके उपरांत कुछ कवियों ने इस ओर प्रयास भी किया, किन्तु उन्हें विद्यापति के समान सफलता नहीं मिली। कहा तो यहाँ तक जाता है कि श्री चैतन्य महाप्रभु उनके पदों की मादकता से अभिभूत होकर इतने तन्मय हो जाते थे कि उन्हें अपने शरीर की भी सुध-बुध नहीं रहती थी। श्री चैतन्य महाप्रभु का सुयोग पाकर उनकी पदावली से जनपद गूँज उठा था। उनकी सरस पदावली सर्वत्र ही मादकता के रस का संचार करने लगी थी। बंगदेश ने उनको सबसे अधिक अपनाया भी और कुछ समय पश्चात् वह उन्हें अपना बनाने भी लगे। महाकवि विद्यापति बंगदेशीय कवि कहे जाने लगे। अतएव "विद्यापति किस भाषा के हैं ?" समस्या बहुत ही अधिक विवादास्पद हो गयी। किन्तु अब यह निश्चित रूप से सिद्ध हो गया है कि महाकवि विद्यापति मिथिला निवासी थे और हिन्दी तथा मैथिली में उन्होने अपनी पदावली की रचना की थी।

महाकवि विद्यापति भारतीय संस्कृति से पूर्णतया प्रभावित हुए थे। उन्होंने सरल, सरस और स्पष्ट पदावली में अपने भावों की अभिव्यक्ति की। उसमें राधा - कृष्ण के प्रेम का सन्निवेश होने के कारण 'विद्यापति रहस्यवादी कवि थे।' विवाद को कुछ आधार मिल जाता है। डाक्टर ग्रियर्सन विद्यापति को राधा-कृष्ण सम्बन्धी पवित्र प्रेम का उपासक बतलाते हैं। डाक्टर नगेन्द्रनाथ गुप्त भी उन्हीं के पद-चिह्नों का अनुसरण करके विद्यापति के पदों में आध्यात्मिक भावना को दिखलाने का प्रयत्न करते हैं और उन्हें रहस्यवादी कवि मानने लगते हैं। इधर कुमारस्वामी, जनार्दनराय मिश्र आदि विद्वान् भी उनकी कविता को ईश्वरोन्मुखी प्रेम से युक्त बतलाते हैं। किन्तु डा० रामकुमार वर्मा,

विनयकुमार सरकार, बाबूराम सक्सेना, बाबू शिवनन्दन ठाकुर आदि विद्वानों ने उन्हें ठेठ शृङ्गारी कवि माना है और उनकी कविता में लौकिक प्रवृत्ति का संकेत किया है। उसमें दार्शनिक गूढ़ रहस्य नहीं है।

"कि आरे नव जौवन अभिरामा।
जत देखल तत कहए न पारिअ, छुओ अनुपम इक ठामा॥"

विद्यापति ने राधा-कृष्ण के प्रेम का जो चित्र खींचा है उसमें वासना का रंग बहुत ही प्रखर है। उसमें आराध्यदेव के प्रति भक्त की सी पवित्र भावना नहीं है। उसमें सख्य भाव की उपासना अवश्य प्रदर्शित की गई है किन्तु उसमें कृष्ण उन्मत्त नायक और राधा यौवन-मदिरा में मतवाली मुग्धा नायिका की भाँति दिखलाई पड़ती हैं। उसमें राधा के प्रेम का भौतिक एवं वासनामय रूप है। अङ्गरेजी के कवि बाइरन के समान विद्यापति का भी यही सिद्धान्त है—

"यौवन के दिन ही गौरव के दिन हैं।"

विद्यापति ने शृङ्गारिक कविताओं के अतिरिक्त भक्ति सम्बन्धी कुछ पदों की भी रचना की है। ये पद शिव, दुर्गा, गंगा की भक्ति से सम्बन्धित हैं।

भाषा और शैली—महाकवि विद्यापति संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। संस्कृत पर उनका पूर्ण अधिकार था। हिन्दी साहित्य का आदिकाल अपभ्रंश-काल था। विद्यापति के समय तक अपभ्रंश का थोड़ा बहुत स्थान रहा ही था। उस समय देशी भाषाएँ सिंहासनारूढ़ होने लगी थीं। इस प्रकार वह हमारे सन्धिकाल के कवि थे। उनकी भाषा भी तत्कालीन भाषाओं से प्रभावित है। उन्होंने स्वयं कहा है—

"देसिअ बअना सब जत मिट्ठा।
तें तैसन जंपओ अपहट्ठा॥"

अर्थात् देशी भाषा सबको मीठी लगती है इसीसे मैं भी देशी भाषा

से मिली हुई अपभ्रंश में रचना कर रहा हूँ। उन्होंने दोहा चौपाई, छंद, छप्पय इत्यादि छंदों का प्रयोग किया है। उनकी अपभ्रंश में कहीं कहीं पर पूरवी का भी प्रभाव दिखलाई पड़ता है। उसमें संस्कृत तत्सम् पदावली की तो बहुलता है ही।

पुरिसत्तेण पुरिसउ नहिं पुरिसउ जन्म मत्तेन।
जलदान मेहु जलओ न हु जलओ पुंजिओ धूमो॥

उनकी मैथिली तो अत्यन्त ही सरस और परिष्कृत है।

"एकहि नगर बस माधघ रे, जनि करवट मारि।
छाड़ु कन्हैया मोर आँचर रे, फाटत नव सारि॥
हरि के संग किछु डर नहि रे तोह परम गँवारि॥"

उनकी पदावली में राधा कृष्ण के उत्कृष्ट प्रेम का वर्णन किया गया है। उसमें शृङ्गार रस प्रधान है! कहीं कहीं पर तो उसमें अश्लीलता की भी पराकाष्ठा हो गई है। उनके इस ग्रन्थ की भाषा मैथिली है। उसमें बनावल, पाइल, कहिल, जानल आदि पूर्वी हिन्दी की क्रियाओं का भी समावेश हुआ है।

कमल मिलल दल मधुप चलल घर बिहग गहल निज ठाये।
अरे रे पथिक जन थिर रे करिअ मन बड पाँतर दुर गाये॥

विद्यापति की अलंकार योजना भी अत्यन्त सुन्दर है। उसमें विविध अलंकारों का बड़ा ही सुन्दर प्रयोग देखने को मिलता है।

चिकुर निकर तम-सम पुनु आनन पुनिम ससी।
नयन पंकज के पतिआ आते एक ठाम रहु बसी॥

उन्होंने संयोग और वियोग का भी अति सुन्दर चित्रण किया है। उनमें हृदय को स्पंदित करने की अपूर्व शक्ति है। दो पंक्तियाँ देख लीजिए—

"के पतिया लए जायतरे मोरा पिय पास।
हिय नहि सहै असह दुख रे भलसा ओन मास॥"

उनकी इस प्रकार की उक्तियाँ पाठकों के हृदय को सहसा ही अपनी

ओर आकर्षित कर लेती हैं। उनकी भाव-माधुरी पाठकों को एक अपूर्व आनन्द से विभोर कर देती है। वास्तव में कवि की यही सफलता है और इसीसे वह महाकवि कहे जाते हैं।

इस प्रकार हम संक्षेप में कह सकते हैं कि महाकवि विद्यापति ने साहित्य की सम्बर्द्धना में अपना तनमन लगा दिया था। उन्होंने भाषा में सजीवता लाने के लिए सभी प्रकार की प्रणालियों को अपनाया। इसीसे उनकी पदावली में अनुपम पदलालित्य है, यही नहीं वह सरसता, मधुरता एवं भाव-गांभीर्य से सर्वथा परिपूर्ण है। इसीसे साधारण पाठकों का मन-मयूर भी आनन्दघन की छटा देखकर सहसा ही मस्त होकर झूमने लगता है।

———

लीला रोला छन्द में वर्णित है। इसमें पाँच अध्याय हैं। इसके कथानक का आधार भागवत ही हैं। इतना अवश्य है कि कुछेक स्थलों पर कथानक में कुछ रूपान्तर हो गया है। इसमें कवि की मौलिकता झलकती है।

भँवरगीत उनकी दूसरी उत्कृष्ट रचना है। इसका आकार तो अत्यंत छोटा है किन्तु उसका महत्व सूरदास के भ्रमर गीत से कम नहीं है। इस प्रकार उन्होंने प्राचीन परिपाटी के अनुसार लिखी जाने वाली भ्रमरगीत की प्रथा को अपनाया। इसके नामकरण में उन्होंने विशेष ध्यान रक्खा है। उन्होंने रेफ की परुषता को हटाकर उसे श्रुति-माधुर्य गुण से भर कर 'भंवर गीत' नाम रक्खा। यह काव्य माधुर्य रस से परिपूर्ण है। इसमें उन्होंने गोपियों की विरह-दशा का कारुणिक चित्र खींचा है। इसमें ब्रह्म, माया और जीव की बड़ी ही सुन्दर विवेचना की गई है। हिंदी साहित्य में सत्यनारायण कविरत्न, सूरदास, जगन्नाथदास 'रत्नाकर' आदि कवियों ने भी भ्रमरगीत लिखे, किन्तु नन्ददास का भ्रमरगीत इन सबसे भिन्न है। इसमें कवि ने कथोपकथन प्रणाली द्वारा भाव-व्यंजना करके काव्य को सर्वश्रेष्ठ बना दिया है।

काव्य साधना—नन्ददास भक्त कवि थे। उनके सभी काव्य इसी भक्ति-रस से परिपूर्ण हैं। वह रसिक भी थे। उनकी उक्तियों की सरलता, तर्कवाद, भक्तितत्व, रस-तत्व की उत्कृष्टता, सर्वथा प्रशस्य है। उनका काव्यगीत माधुर्य से परिपूर्ण है। उनके सम्बन्ध में ध्रुवदास ने कहा है :—

'नन्ददास-जों कछु कह्यो रामरंग सौं पागि।
अच्छर सरस सनेहमय, सुनत स्रवन उठ जागि॥
रसिक दशा अद्भुत हुती कर कवित्त सुढार।
मत प्रेम की सुनत ही छुटत मोह जलधार॥
बावरो रस में फिरै, खोजत नेह की बात।
आछे रस के वचन सुनि वेगि विवश होजात॥'

उन्होंने रासपंचाध्यायी में भक्तिमय-रहस्यवाद का परिचय दिया है। इसमें कवि ने शब्दों को इस प्रकार सुगुंफित किया है कि उनसे नन्ददास का रीति शास्त्र विषयक परिज्ञान भी हो जाता है। इसमें कवि कृष्ण गोपी प्रेम का विस्तृत वर्णन किया है। इसमें आध्यात्मिक संकेत के साथ शृङ्गार रस की प्रधानता है और अलंकारों की भी सुन्दर योजना है। उनके अलंकार कहीं पर भी भार रूप नहीं हुए हैं। वे कहीं पर भी भावाभिव्यक्ति में बाधक नहीं हुए हैं। इसीसे उसमें अपूर्व सरसता एवं-माधुर्य रस का समावेश है। उन्होंने केशव के समान अपनी प्रतिभा-पाण्डित्य का प्रदर्शन नहीं किया है, अपितु भाषा को अपने भावों की अनुगामिनी बनाया है। इसीसे उनके भावों को हृदयंगम करने में किसी भी बाधा का सामना नहीं करना पड़ता :—

"प्रेम प्रेम सो होय प्रेम सो पारहिं जैय।
प्रेम बंध्यों संसार प्रेम परमारथ पैय॥
एकै निश्चय प्रेम को जीवनमुक्त रसाल।
साँचो निश्चय प्रेम को जिह तैं मिलें गोपाल॥"

(भंवरगीत)

"ऊँच कर्म ते स्वर्ग हैं, नीच कर्म ते भोग।
प्रेम बिना सब पचि मरै, विषय वासना रोग॥"

"रस मंजरी" में उन्होंने यही स्पष्ट किया है कि संसार में जो कुछ रस है, जो कुछ सौन्दर्य वह सब प्रभु का ही है।

"रूप प्रेम आनन्द रस जो कछु जग मैं आहि।
सो सब गिरधर देव कौ निधरक बरनौं ताहि॥"

रीतिशास्त्र के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस पद्धति के अनुसार उन्होंने रीति-कालीन कवियों की भाँति संक्षेप में नायिका भेद का भी वर्णन कर गये हैं।

उन्होंने गोपी-प्रेम के संयोग और वियोग का ही विपद वर्णन किया है और रसों का उनकी रचनाओं में अभाव सा है। उनके विप्रलंभ

शृङ्गार में सूर जैसी ही अभिव्यंजना है। रूप मंजरी, रस मंजरी, भंवर-गीत, रुक्मिनीमंगल, रास पचाध्यायी आदि रचनाएँ विप्रलंभ के इस मार्मिक चित्रण से ओत-प्रोत हैं।

"सुनि मोहन संदेश, रूप सुमिरन ह्वै आयौ।
पूलकित आ, अलकनन अंग आवेश जनायौ॥
विह्वल ह्वै धरनी परी, ब्रज बनिता मुरझाय।
दै जल छींट प्रबोधहीं, ऊधौ बात बनाय॥"

(भंवरगीत)

"निकस प्रान तियतन तैं, द्विज के वचननि आये।
जब कह्यो "श्री हरि आये", मनौं बहुर की फिर आये॥"

इस प्रकार उन्होंने विरह के सिद्धान्तों का भी निरूपण किया है और विरिहिणी ब्रज बालाओं की सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रवृत्तियों का भी अत्यन्त प्रभावशाली वर्णन है।

भाषा शैली—नन्ददास की शैली माधुर्य और प्रसाद गुण से परिपूर्ण है। सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि उनकी कोमलकान्त पदावली संयुक्ताक्षरों से मुक्त है।

"अर्थ अमित अति आखर थोरे।"

उनकी भाषा परिष्कृत ब्रज-भाषा है। अपने भावों को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए उन्होंने यत्र तत्र संस्कृत शब्दों का भी प्रयोग तो किया है, किंतु उसकी बोधगम्यता का सर्वत्र ही ध्यान रक्खा है। इसीसे उनकी सभी रचनाएँ अत्यन्त सरस हैं। रास पंचाध्यायी के दिषय में तो उन्होंने स्वयं लिखा है :—

"यह उज्ज्वल रसमाला, कोटि जतन कर पोई।
सावधान ह्वै पहिरौ, इहिं तोरो मति कोई॥"

एक उदाहरण देख लीजिए।

सघन कुञ्ज में चन्द्रमा की पतली किरण झिलमिलाती हुई काँपती हुई गिर रही हैं—

"फटिक-छटा सी किरन, कुञ्ज-रंध्रनि जब आई।
मानह वितन-वितान, सुदेश तनाव-तनाई।
"मंद मंद चलि चारु, चन्द्रमा असि छवि पाई।
उझकत है जनु रमा रमन, प्रिय कौतुक आई॥"

उन्होंने अपनी पदावली अधिक सरस बनाने के लिए कोमल और ह्रस्व वर्गों का ही कलापूर्ण प्रयोग किया है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उन्होंने जयदेव की श्रुति-मधुर पदावली का अनुसरण किया है। इतना अवश्य है कि जयदेव ने संस्कृत में लिखा और नन्ददास ने हिन्दी ब्रजभाषा में।

इस प्रकार संक्षेप में कहा जा सकता है कि नन्ददास ने दो प्रकार की शैलियों को अपनाया एक अलंकार से युक्त है और दूसरी अलंकारों से मुक्त है। इनके विषय में एक समालोचक ने लिखा है :—

'अनुप्रासादि शब्दालंकारों तथा उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अर्थालङ्कारों से लदी हुई जिस आदर्श साहित्यिक भाषा की कवि ने सृष्टि की है, उसमें सरस प्रवाह है, अद्भुत संगीत है और हृदय पर चोट करने की अपूर्व क्षमता है।' किन्तु माधुर्य रस की पयस्विनी धारा सर्वत्र ही प्रवाहित है जो श्रोता पाठकों को सहसा ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है और वे उसी प्रवाह में बहे चले जाते हैं। उन्हें अपने 'तन मन की सुध" भी नहीं रहती है। इसी से किसी समालोचक ने सत्य कहा है कि "अन्य कवि गढ़िया, नन्ददास जड़िया।" अर्थात् नन्ददास ने जो कुछ भी लिखा वह नगमा जड़ गया है। भँवरगीत का एक उदाहरण देख लीजिए :—

"जो उनके गुन नाहिं और गुन भये कहाँ ते,
बीज बिना तरु जमै केहि तुम कहौ कहाँ ते।
वा गुन की परछाह री माया दर्पन बीच,

गुन ते गुन न्यारे भये अमल वारि मिलि कीच ॥
सखा सुनु स्याम के ।"

नन्ददास ने यत्र-तत्र कल्पना का भी आश्रय लिया है, इससे उनका काव्य और भी रमणीक हो गया है। इस कला में भी उनकी पूर्ण मौलिकता झलकती है।

"ज्ञान जोग सब कर्म तें प्रेम परे है सांच ।
हौं यहि पटतर देत हौं, हीरा आगे कांच ॥"

उनकी भाषा की सादगी का एक उदाहरण और देख लीजिए—

"कहन स्याम-संदेस एक मै तुम पै आयौ,
कहन सबै संदेस कहूँ अवसर नहिं पायौ ।
सोचत मन में रह्यौं कब पाऊँ इक ठाउँ,
कहि संदेश नंदलाल कौ, बहुरि मधुपुरी जाऊँ ॥
सुनो ब्रजनागरी ॥"

इस प्रकार हम देखते है कि कवि ने अपनी भाषा के माधुर्य को बढ़ाने के लिए ह्रस्व-दीर्घ मात्राओं का भी यथा स्थान समुचित प्रयोग किया है। मुहाविरों के समुचित प्रयोग से भाषा की अभिव्यञ्जन शक्ति और भी अधिक बढ़ गयी है।

"घर आयो नाग न पूजहीं, बाँवी पूजन जाहि ।"
"कहा हिय लौन लगायो ।"
"फाटि हियरो चल्यौ, चोर चित लै गये ॥

इन्हीं सब विशेषताओं के कारण नन्ददास की रचनाएँ अत्यन्त महत्वपूर्ण हो गई हैं। हिन्दी साहित्य में भी उनका महत्वपूर्ण स्थान है। वह अष्टछाप के प्रमुख कवियों में गिने जाने हैं। कहा तो यह जाता है कि सूर के उपरान्त नन्ददास का ही स्थान है।

मीराबाई

जीवन परिचय—मीराबाई मेवाड़ के राठौर श्री रतनसिंह की सुपुत्री थीं। इनका जन्म संवत् १५७३ विक्रमी के लगभग हुआ था। उनके हृदय में भगवद्भक्ति तो बचपन से ही जागृत हो गयी थी, समय के परिवर्तन एवं शरीरायु के क्रमिक विकास के साथ उसमें भी उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती गयी। आगे चलकर इसी भावना ने उन्हें भगवान की अनन्य भक्तिन बना दिया। उदयपुर के कुमार श्री भोजराजजी से उनका पाणिग्रहण संस्कार हुआ था, किंतु दुर्भाग्यसे वह युग्म थोड़ी ही अवस्था में एक दूसरे से सदा के लिए बिछुड़ गया। राणा के दिवंगत हो जाने से मीरा को आजीवन वैधव्य दुख भोगना पड़ा। पति की आत्मा के परमात्मा में लीन हो जाने के कारण मीरा भी उसी सदानन्दी आत्मा से साक्षात्कार करने का प्रयास करने लगी। वह भगवद्भक्ति के अगाध प्रवाह में स्नान करने लगी। इस भक्तिरस में निमग्न होकर वह मंदिर में श्रीकृष्ण की मूर्ति के सम्मुख नाचा-गाया भी करती थी। उनका यह कार्य घरवालों को अच्छा न लगा। उन्होंने इसका विरोध किया, किन्तु मीरा—जो भगवत्प्रेम में निमग्न हो रही थी, जिसने भगवान की भक्ति के ही लिए संसार के सभी भोग-विलासों का सर्वथा परित्याग कर दिया था, घर वालों की भगवद्भक्ति विरोधी भर्त्सनाओं को कब सहन कर सकती थीं? उसने विवश होकर घरबार छोड़ दिया और वृन्दावन तथा द्वारिका के मन्दिरों में घूम-घूमकर भगवद्भक्ति में अपना समय बिताने लगीं।

इनके विषय में एक किंवदंती भी है। मेवाड़ के तत्कालीन राणा ने ब्राह्मणों द्वारा मीराबाई के पास निमंत्रण-पत्र भेजकर पुनः मेवाड़ आने

के लिए उनसे प्रार्थना की। मीराबाई ने इस प्रार्थना को स्वीकार तो कर लिया किंतु मेवाड़ जाने से पूर्व श्री रणछोर जी से आज्ञा लेने के लिए वह मंदिर में गयीं। कहा जाता है कि वह उसी समय उनकी मूर्ति में समा गयीं। यह घटना सम्वत् १६३० विक्रमी के लगभग की सुनी जाती है।

रचनाएँ—मीराबाई भगवान श्रीकृष्ण की अनन्य उपासिका थीं। "मेरो तो गिरधर गुपाल, दूसरो न कोई।" अतएव उनकी सभी रचनाएँ श्रीकृष्ण की भक्ति से ही सम्बन्धित हैं। उन्होंने प्रबन्ध काव्य आदि लिखने के उद्देश्य से कोई रचना नहीं की। वह तो भगवान की भक्ति में तल्लीन रहा करती थीं और उन्हीं की भाव-लहरी में अनेक पद बनाकर गाया करती थीं। इस प्रकार उनकी कविता केवल गेय पदों का संग्रह मात्र है जिनको उन्होंने भगवद्भक्ति में निमग्न होकर बनाया और गाया। उन्होंने गुजराती, राजस्थानी तथा हिंदी में अपनी पद-रचना की।

काव्य-साधना—मीराबाई भगवान की अनन्य भक्तिन थीं। उनकी भक्ति भावना भी सूर और तुलसी की भाँति उच्च कोटि की थी। किन्तु उनकी भक्ति उन दोनों से ही भिन्न थी। सूर की भक्ति सख्य की थी और तुलसी की दास्य-भाव की किंतु मीरा ने भगवान को पति रूप में-स्वामी रूप में माना। वह उनकी मूर्ति के सम्मुख नाचा गाया भी करती थीं। इसके लिए उन्हें भीड़ की तनिक भी चिंता नहीं रहती थी। इस प्रकार उनकी भक्ति में जीवन की सी तन्मयता थी, जो सभी वर्ग के प्राणियों को अपने वशीभूत किए रहती हैं। वह संसार की लज्जा नहीं करती थीं। इसके लिए तो वह स्वयं कहा करती थीं—

"मेरो तो गिरधर गोपाल, दूसरा न कोई।
जाके सिर मोर मुकुट, मेरो पति सोई॥"

अतएव संसारी व्यक्तियों से लज्जा करने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। इस भक्ति के लिए उन्होंने—

"भाई छोड़या बंधु छोड़या- छोड़या सगा सोई।
साधु संग बैठ बैठ लोक लाज खोई॥"

उसके बचपन के गिरधर गोपाल सदा उसके साथ रहे। यहाँ तक कि उसकी सारी क्रियाएँ भी उन्ही से युक्त हो गयीं।

"जहाँ जहाँ पाँव धरूँ धरणी पर, तहाँ तहाँ निरत करूँरी।"

वह अपने आपको कृष्ण की गोपिका समझती थी और प्रत्येक प्रकार से उनकी परिचर्या के लिए तत्पर रहा करती थीं।

"नातो नाम को मोसों तनक न तोड्यो जाइ।
पानी ज्यूँ पीली पड़ी रे लोग कहैं पिड रोग॥
छाने लांघड़ मैं किया रे राम मिलण के जोग।"

\+ + +

"म्हारो नातो नाव को रे, और न नातो कोइ।
मीरा व्याकुल विरहिणी रे, पिया दरसन दीवो मोइ॥"
"मीरा के प्रभु कबरे मिलोगे।
"मिल बिछुरन मत कीजै॥"

इतनी पंक्तियां से मीरा की भक्ति-भावना स्पष्ट हो जाती है। यहीं पर यह भी ध्यान रख लेना चाहिए कि मीराबाई ने कवित्व प्रदर्शन के उद्देश्य से एक भी पद की रचना नहीं की। उन्होंने भगवत् भक्ति में पद बनाये और गाये। इसीसे उनके पदों में चमत्कार-प्रदर्शन भी नहीं है। वे सरल, सुबोध और भावमय हैं। अपनी भक्ति को अधिक स्पष्ट करने के उद्देश्य से उन्होंने उपमा, रसक, उत्प्रेक्षा आदि अलङ्कारों का आश्रय अवश्य लिया है, किंतु यह अलङ्कार ऐसे हैं जो भावाभिव्यक्ति प्रकृत्या ही आ जाते हैं, उनके लाने के लिए मानसिक परिश्रम की भी विशेष आवश्यकता नहीं होती है।

मीरा के सभी पदों का सम्बन्ध उसके प्रियतम से है जो अखिल सृष्टि का कर्ता, धर्ता और हर्ता है। इसीसे उसकी पदावली में रहस्यमयी भावना भी आ जाती है। हमारे प्राचीन कवियों में जायसी और कबीर

ने भी इसी रहस्यवाद की कल्पना की थी, किन्तु मीरा का रहस्यवाद उनके रहस्यवाद की कोटि का होते हुए अपनी विशिष्टता रखता है। वस्तुतः मीरा ही एक ऐसी भक्तिन कवियित्री हैं जिसे उस परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार हो गया। कबीर का रहस्यवाद उपदेशात्मक ही था, उन्होंने उसकी अनुभूति भी की थी, किन्तु वियोग जन्य दुख से संतप्त होकर नहीं। जायसी ने प्रेम-वर्णन किया था, किन्तु स्वयं उसमें तन्मय होकर नहीं, किन्तु मीरा ने अपने आपको उसमें मिला दिया था। कबीर आदि के उपदेशों को देखकर वह कहा करती थीं : –

"जो मैं ऐसा जानती रे, प्रीति किए दुख होय।
नगर ढिढोरा फेरती रे, प्रीत करो मत कोय॥"
"तुम देखे बिन कल न परत है तलफ तलफ जिय जासी।
तोरे खातिर जोगिन हूँगी, करवट लूँगी काशी॥"

ऐसी उक्तियाँ मीरा के अन्तस्तल से निकली है। वे इतनी भावपूर्ण एवं आकर्षक हैं कि नागमती और पद्मावती की उक्तियाँ भी उनकी समता नहीं कर सकती है। उनमें भक्ति भाव की ऐसी सरस अनुभूति नही है, उनका ईश्वरीय प्रेम सांसारिक आधार लिए हुए है किन्तु फिर भी एक प्रेम उज्ज्वल है, प्रांजल है, उसमें साँसारिकता लेशमात्र के लिए भी नहीं है।

मीरा की रचनाएँ शृङ्गार रस से ओत-प्रोत है। उनका शृंगार भगवान का शृंगार है। इतना अवश्य है कि उसमें संयोग और वियोग दोनों का ही सन्निवेश हे किन्तु उसमें वासना की सुगन्धि भी नहीं आने पाई है। वह परम पवित्र एवं प्रांजल शृंगार है जो भक्तों का, सच्चे अनन्य भक्तों का—सर्वस्व है। उनकी कविता का विरह साँसारिक की अपेक्षा आध्यात्मिक अधिक है।

"रैन अँधेरी विरह घेरी, तारा गिणत निसि जात।
लै कटारी कण्ठ चीरूँ, करूँगी अपघात॥

पाटन खोल्या, मुखौ न बोल्या साँझ लागै परभात ।
अबोलना में अवधी बीती, काहे की कुशलात ।।"

तथा—

"मीरा की प्रभु पीर मिटैगी, जब वैद सामलिया होय ।"

कितनी सुन्दर एवं भावपूर्ण उक्ति हैं ।

काव्यगत भावनाओं की दृष्टि से मीरा के दो दृष्टिकोण माने जाते हैं । सर्वप्रथम वह श्रीकृष्ण की भक्ति माधुर्य रूप में करती हैं । वे श्रीकृष्ण को अपना पति मानती हैं ।

"अब तो मेहर करो मुझ ऊपर, चित दे सुणो हमारी ।
मीरा के प्रभु मिलन्यो माधो, जनम जनम की कँवारी ।।
लगी दरसन की तारी ।।"

इस प्रकार के पदों में उन्होंने अपने इष्टदेव का वर्णन किया है और अपनी दयनीय दशा का वर्णन करके प्रणय याचना की है । इसके साथ ही उन्होंने सन्त कवियों की परम्परा के आधार पर भी कुछ पदों की रचना की । इनमें अलङ्कारों की कुछ अधिकता है, किन्तु ऐसे पदों की संख्या अधिक नहीं है ।

"इन नैनन मेरा साहिब बसता, उरती पलक न नाऊँरी ।
त्रिकुटी महल में बना है झरोखो, तहाँ से झाँकी लगाऊँरी।।
सुन्न महल में सुरत जमाऊँ, सुख की सेज बिछाऊँरी ।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर बार बार बलि जाऊँरी ।।"

मीरा के सभी पद गेय हैं । उनमें राग रागनियों का भी अच्छा प्रयोग हुआ है । इसी से उनकी उत्कृष्टता और भी अधिक बढ़ जाती है । उनकी सरसता, एवं मनोहारिता साधारण से साधारण पाठक के हृदय को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है । यह उनकी अपनी विशेषता है ।

भाषा और शैली—मीराबाई की भाषा मिश्रित ब्रजभाषा है । वह एक स्थान पर न रहकर इधर-उधर भ्रमण करती रहीं और श्रीकृष्ण

की भक्ति में पद बना कर गाती रहीं। उनके जीवन का प्रारम्भिक काल राजस्थान में बीता इससे उनकी कविता में राजस्थानी शब्दों की प्रचुरता दिखलाई पड़ती है किन्तु ब्रजभूमि में आकर उन्होंने जिस भाषा को अपनाया वह अधिक अंशों में परिष्कृत भाषा है।

"बसौ मेरे नयनन में नन्दलाल।"

उन्होंने अपने भावों को स्पष्ट करने के लिए शब्दों के रूपों में भी यथोचित परिवर्तन किया है। कहीं-कहीं तो यह परिवर्तन राजस्थानी का रूप सा झलका देता है।

"खिण मन्दिर खिण आँगण रे खिण खिण ठाड़ी होय।
घायल ज्यूँ घूमूँ सदा री, म्हारी विथा न बूझे कोइ॥"
"बावल बेद बुलाइया रे, पकड़ दिखाई म्हारी बाँह।
मूरिख बेद मरम नहिं जाणै, करक कलेजा माहिं॥"
"चाकरी मैं दरसन पाऊँ, सुमिरण पाऊँ खरची।
भाव भगत जागीरी पाऊँ, तीनों बातें सरसी॥"

इस प्रकार हम संक्षेप में कह सकते हैं कि मीरा ने अपनी भावाभिव्यक्ति के लिए जिस प्रकार की भाषा को अपनाया वह उनके अभीष्ट साधनार्थ पूर्ण सफल थी इतना अवश्य है कि ब्रज के क्षेत्र के एवं ब्रजभाषा काव्य के समय की होते हुए भी उनकी भाषा शुद्ध परिष्कृत ब्रज भाषा नहीं है। इसी से उसमें शुद्ध साहित्यिकता नहीं है। उन्होंने व्याकरण सम्बन्धी प्रयोगों का भी समुचित ध्यान रखा है तथा अन्य खटकने वाले दोषों से भी अपनी पदावली को मुक्त रखने का सफल प्रयास किया, फिर भी उसमें तत्सम्बन्धी जो दोष आगए हैं उनका मूल कारण यही था कि मीरा भगवान् की अनन्य भक्तिन थीं, उन्होंने भगवान की आराधना के लिए ही इस प्रकार की पदावली की सृष्टि की। भला भक्त कवियों को इतना समय कहाँ कि जो सभी प्रकार की कसौटी पर अपने प्रत्येक पद तथा उसके शब्द को कसते और काव्य के उस मृग-

मरीचिका जाल में फँसते। उदाहरण स्वरूप दो-चार पंक्तियाँ और देख लीजिए—

"म्हे तो सरणे राम के, भल निन्दो संसार।
माला म्हारे देवड़ी, सील विरत सिंगार।।
अबकै किरपा कीजियो,हूँ तो फिर बाँधू तलवार।
रथाँ बैल जुताय कै, ऊँटा कसियो भार।।"
"संसारी निन्दा करै रे, दुखियो सब संसार।
कुल सारो ही लाजसी, मीरा थै जो भया जी ख्वार।।"
"सदकै करूँ जी शरीर, जुगै जुग वारणैं।
छोड़ी छोड़ी कुल की लाज साहिब तेरे कारणैं।।"
"मीरा के प्रभु गिरधर नागर 'चेरि भई बिन मोलै।
कृष्णरूप छकी हुं ग्वालिन, औरहि औरैं बोलैं।।"

इस प्रकार संक्षेप में कहा जा सकता है कि भगवद्भक्ति में निमग्न होकर भक्ति रस की प्रधान कवियित्री मीराबाई ने अपने भावानुकूल जिस भाषा का प्रयोग किया है, वह उनकी महत्ता की पूर्ण रूपेण साधिका है, और काव्य के क्षेत्र में भी उनका महत्त्वपूर्ण स्थान निश्चित कर देती है। वह हमारे भक्त कवियों में सर्व शिरोमणि हैं और काव्य के क्षेत्र में भी किसी से पीछे नहीं हैं। उनकी पदावली में सूर की भी मधुरता है तथा कबीर की सी संसार त्याग की भावना। कबीर की उपासना पद्धति जो एक प्रकार से उपदेशात्मक हो गयी है, उसमें हृदय पक्ष का अभाव सा हो गया है, मीराबाई ने अपनी पदावली में उसी हृदय-पक्ष का समावेश कर हिन्दी साहित्य में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है।

रसखान

जीवन-परिचय—भक्ति-काल के अन्य कवियों की भाँति रसखान का भी जन्म संवत् अनिश्चित सा है। कहा यह जाता है कि उनका जन्म सम्वत् १६१५ वि० के लगभग हुआ था। दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता से प्रकट होता है कि रसखान दिल्ली के राजवंश के पठान थे और सैयद इब्राहीम उनका नाम था। अवस्था में वैष्णवों के उपदेश से उन का मन भगवान श्रीकृष्णचन्द्र जी की भक्ति में लग गया। बस उसी समय से उनके हृदय में विराग उत्पन्न हो गया, वह भगवान् श्रीकृष्ण की आराधना करने लगे और उन्हीं के गुणगान में भजन गाने लगे। जनश्रुति है कि एक बार वह श्रीकृष्ण के दर्शनार्थ श्रीनाथ जी के मन्दिर में जा रहे थे, किन्तु मुसलमान होने के कारण उन्हें बीच ही में रोक दिया गया। इससे उन्हें अत्यधिक दुख हुआ। उन्होंने अनशन प्रारम्भ कर दिया और वहीं गोविन्द कुण्ड पर बैठ गये। श्रीकृष्ण के प्रति उनकी ऐसी अगाध भक्ति देखकर श्री बिट्ठलनाथ जी ने उन्हें अपना शिष्य बना लिया। उस समय से वह भगवान श्रीकृष्ण की भक्ति में ही अपना समय बिताने लगे और जीवन की अन्तिम घड़ियों तक उसी में तल्लीन रहे। श्रीकृष्ण की भक्ति में अत्यधिक तल्लीन रहने के कारण वह रसखान कहलाये और अन्त तक इसी नाम से प्रख्यात रहे। उनको अपना यह नाम इतना अधिक प्रिय था कि उन्होंने इसकी व्याख्या स्वयं ही करदी है—

"बैन वही उनको गुन गाइ और कान वही उन बैन सो सानी।
हाथ वही गात उन सरें अरु पाँय वही जु वही अनुजानी॥
जान वही उन प्रान के संग औ मान वही जु करै मनमानी।
त्यों रसखान वही रसखान जु है रसखान सो है रसखानी॥"

रसखान ने अन्तिम चरण में स्पष्ट कर दिया कि सचमुच वही रस की खानि है जो वस्तुतः रस की खानि है और रसखान भी तभी रसखान है जब वह भी वही रसखानि हो जाय जो सचमुच रसखानि है। उनका देहावसान सम्वत् १६८५ वि० में हुआ।

रचनाएं—रसखान के दो ग्रन्थ ही प्राप्य हैं, 'प्रेमवाटिका', तथा 'सुजान-रसखान'। 'प्रेमवाटिका' उनकी प्रथम रचना है। यह सम्वत् १६७१ वि० में लिखी गयी।

काव्य-साधना—रसखान रस से परिपूर्ण थे। इसी से उनकी कविता भी तद्वत् रस से परिपूर्ण है। वह कृष्ण के भक्त थे। इसी से उनकी सभी रचनाएं कृष्ण-प्रेम से ओत-प्रोत हैं। उन्होंने केवल कविता, सवैया, दोहा और सोरठों में अपनी कविता की है। वह भगवान की भक्ति में ही भाव-विभोर रहा करते थे। इसी से अधिक लिखने के लिए उन्हें अवकाश न मिला। वह सौंदर्योपासक तो थे, किन्तु उनकी यह सौंदर्योपासना श्रीकृष्ण की भक्ति में ही समा गयी। वास्तव में यही उन्हें अभीष्ट भी था।

"या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूंपुर को तजि डारौं।
आठहु सिद्धि नवौ निधि को सुख नंद की गाय चराय बिसारौं॥
'रसखान' कबौं इन आँखिनतें ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
कोटिन हूँ कलधौत के धाम करील की कुँजन ऊपर बारौं॥"

इस पद से ध्वनित होता है कि रसखान सचमुच 'करील की कुंजों' को श्रेष्ठ मानते थे। वह लौकिक प्रेम से अलौकिक प्रेम की ओर आकृष्ट हो गये थे। वह कहते हैं—

"आनन्द अनुभव होत नहिं, बिना प्रेम जग जान।
कै वह विषयानन्द, कै ब्रह्मानन्द बखान॥
"जेहि पाये बैकुण्ठ अरु हरिहूँ की नहि चाहि।
सोइ अलौकिक सुद्ध, सुभ, सरस सुप्रेम कहाहि॥"

वह श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त थे। उनमें श्रीकृष्ण के प्रति अगाध भक्ति थी। ब्रज श्रीकृष्ण की जन्मभूमि है। इसी से वह भी उन्हें सबसे अधिक प्रिय लगी—

"मानुष हौं तो वही 'रसखान' फिरौं मिलि गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पशु हौं तो कहा बस मेरो, चरौं नित नन्द की धेनु मझारन॥
पाहन हौं तो वहीं गिरि को जो धरयौ कर छत्र पुरन्दर धारन।
जो खग हौं तो बसेरौ करौं नित कालिन्दी कूल कदंब की डारन॥"

तथा

"कोटिक हूँ कलधौत के धाम करील की कुंजन ऊपर बारौं।"

उन्होंने राधा-कृष्ण के प्रेम का भी अति सुन्दर वर्णन किया है।

"दोऊ परैं पैया दोऊ लेत हैं बलैयां,
उन्हें भूलि गई गैयाँ इन्हें गागरि उठाइबो।"

वस्तुतः जीव जब ऐसे ही प्रेम में इसी प्रकार भाव-विभोर हो जाता है, तब उसे संसार की तनिक भी चिंता नहीं रहती है, उसकी आत्मा को परमात्मा का सान्निध्य प्राप्त हो जाता है। बस इससे अधिक उसे चाहिए ही क्या ?

हिन्दी कविता में काग का भी बड़ा माहात्म्य है। लोग उसका शकुन मानते हैं। रसखान उसे बड़ा ही भाग्यशाली बतलाते हुए कहते हैं—

"काग के भाग कहा कहिए, हरि हाथ सों लै गयो माखन रोटी।;'

उन्होंने श्रीकृष्ण के प्रेम को ही अपनी कविता का अंग बनाया है। इस प्रेम वर्णन में श्रीकृष्ण का रूप वर्णन ही प्रधान है। उन्होंने इसी रूप सौन्दर्य को सुललित पदावली में स्पष्ट करने के लिए ही अधिक प्रयास किया है। उन्होंने काव्य के अन्तरंग अंगों की ओर भी उनका ध्यान ही नहीं दिया। इसी से प्रकृति-वर्णन की ओर भी उनका ध्यान अधिक नहीं गया। उन्होंने ब्रज-भूमि का वर्णन तो किया है किन्तु वह अत्यन्त साधारण है। होली का वर्णन भी अत्यन्त साधारण है। फागुन का वर्णन भी कुछ अधिक महत्वपूर्ण नहीं है :—

"आई खेलि होरी ब्रजगोरी वा किसोरी सङ्ग,
अङ्ग अङ्ग रंगनि अनंग सरसाइगो।
कुंकुम की मार वापै रंगनि उछार उड़ें,
बुक्का औ गुलाल लाल लाल बरसाइगो॥
छोड़ें पिचकारिन घमारिनि बिभइ छोड़ै,
तोड़ै हियहार धार रङ्ग बरसाइगो।
रसिक सलोनों रिझवार रसखान आज,
फागुन में औगुन अनेक दरसाइगो॥"

भाषा और शैली—रसखान ब्रजभाषा के प्रमुख कवि थे। उन्होंने यथा समय शुद्ध ब्रजभाषा का प्रयोग किया। उन्होंने सरल से सरल शब्दों में अपनी भावाभिव्यक्ति की है। इसके लिए उन्होंने कहीं पर भी व्यर्थ का शब्द-जाल नहीं रचा है। इसी से उनकी भाषा में न तो क्लिष्टता है और न लाक्षणिक साहित्यिक भाषा ही। वह तो जन साधारण की बोलचाल की भाषा है जिसको साधारण से साधारण व्यक्ति भी सरलता से समझ सकता है। इसी से उसमें अद्भुत सौन्दर्य है, मधुरता है और सरसता है। उसमें प्रवाह है और एक प्रकार का आकर्षण है जिसमें पाठकों का मन-मयूर सहसा ही आनन्द विभोर हो जाता है।

"भावतौ मोहि वही रसखान सो तेरे कहे सब स्वांग करौंगी।
या मुरली मुरली-धर की अधरान धरी अधरा न धरौंगी॥"

कितना सुन्दर एवं सरस पद-विन्यास है। उन्होंनें कुछ स्थानों पर अजूबा, ताख, सुमार, आदि अरबी–फारसी शब्दों का भी प्रयोग किया है। जैसें—

पियारो, ताहि, अबार, अस आहि इत्यादि।

उन्होंने अपनी भावाभिव्यक्ति के लिए यत्र-तत्र शब्दों के रूपों में भी परिवर्तन किया है। किन्तु ऐसी तोड़ मरोड़ अति स्वल्प है। इसी से उसमें कहीं पर भी प्रखरता नहीं आने पाई है। अतिशयोक्ति पूर्ण एक छन्द देखिए—

"सोई हुती पिय की छतियाँ लगि बाल प्रवीने महा मुद मानैं ।
केस खुले छहरैं चहरैं कहरैं छवि देखत मैं न अमानैं ॥
वा रस में रसखान पगी रति रत जगी अँखियाँ नहिं मानैं ।
चन्द पे बिम्ब औ बिम्ब पे कैरव कैरव पे मुकतान प्रमानैं ॥

उत्प्रेक्षा का भी एक उदाहरण देख लीजिए—

"मोहन जू के वियोग की ताप मलीन महा द्युति देह तिया की।
पंकज सो मुख गो मुरझाय लगै लपटैं विरहागि हिया की ॥
ऐसे में आवत कान्ह सुने तुलसी सो तरी तरकी अंगिया की ।
यों जगि जोति उठी उनकी उसकाय दई मनौ बाती दिया की॥'

प्रियतम के आगमन की सूचना देने का यह अति सुन्दर उदाहरण है । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उनकी भाषा सजीव भाषा है, वह पुकार पुकार कहती है कि हम रसखान की सरस-गिरा प्रसूत हैं । वह सर्वथा निर्मल है, स्वच्छ है, और निर्दोष है । इसीसे हम कह सकते हैं कि उनकी भाषा प्रामाणिक भाषा है। मुहावरों के समुचित प्रयोग ने उसे और भी अधिक प्रभावोत्पादक बना दिया है ।

"बैस चढ़े घर ही रह बैठ, अटान चढ़े बदनाम चढ़ैगी ।
हेरति बारहिं बार उते, यह बावरी बाल कहा धौं करैगी ।
जो कहुँ देखि परयो रसखान तो क्योंहूँ न बीर री धीर धरैगी ।
मानि है काहू को कानि नहीं जब रूप ठगी हरि रंग डरैगी ।
याते कहौं सिख मानि भटू वह हेरित तेरेइ पैंड़ परैगी ॥"

इस प्रकार हम संक्षेप में कह सकते हैं कि रसखान की भाषा वास्तव में रस की खानि ही है । वह पाठकों के हृदय को अपनी ओर आकर्षित करने में पूर्ण समर्थ है । उसका लावण्य, सरसता, अलंकारों की स्वाभाविक योजना, भाव-गाम्भीर्य एवं सुमधुर पदलालित्य सर्वथा

विलोकनीय है। धन्य है ऐसे मुसलमान कविजनों को। उनका ऐसा निस्पृह सेवा-भाव देखकर सुधीवृन्द भी गद्‌गद् हो जाते हैं। उनके मुख से भी अनायास ही धन्य धन्य की ध्वनि निकल पड़ती है। यदि उनके समान किसी भी युग में एकाधिक कवि होते तो निस्सन्देह उस युग का नाम उन्हीं के नाम से होता। समग्र रूप में इतना तो कहा ही जा सकता है कि हमारे सभी मुसलमान कवियों ने भाषा को सरस और सुमधुर बनाने का प्रयत्न किया है। उन्होंने व्यर्थ का शब्द जाल भी नहीं रचा जिससे पाठक-वृन्द सरलतापूर्वक उसके रस का पान कर सकते हैं। उनकी यह सरसता, सरलता, माधुर्य एवं भाव-गाम्भीर्य हिंदी साहित्य में अद्वितीय है।

———

नरोत्तमदास

जीवन-परिचय—हमारे सुप्रसिद्ध कवि नरोत्तमदास जी का भी जन्म-समय अन्धकाराच्छन्न है। शिवसिंह सरोज के आधार पर हम इतना ही कह सकते हैं कि वह संवत् १६०२ विक्रमी में वर्तमान थे और सीतापुर जिले के बाड़ी गाँव के निवासी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। उनकी आत्मा कब दिवंगत हुई, सर्वथा अज्ञात है। इस विषय में अद्यावधि कुछ भी सामग्री प्राप्त नहीं हुई है।

रचनाएँ—कहा जाता है कि नरोत्तमदास जी ने सुदामा-चरित तथा ध्रुव-चरित की रचना की। इनमें सुदामा-चरित सबसे अधिक प्रसिद्ध है और उसीका सबसे अधिक महत्व भी है। उनका ध्रुव-चरित अभी तक अप्राप्त है।

काव्य-साधना—नरोत्तमदास भक्ति-काल के हमारे प्रमुख कवि हैं। यथातथ्य वर्णन करना उनकी विशेषता है। सुदामा-चरित उनका उत्कृष्ट खण्ड काव्य है। इसकी कथा में प्रवाह है। कवि ने सुदामा की दरिद्रता का यथातथ्य चित्रण किया है। वह सर्वथा स्वाभाविक है द्वारपाल की उक्ति ही लीजिए—यह चित्रण हिन्दी साहित्य में अद्वितीय है। वह सुदामा की दरिद्रावस्था का चित्रण करता हुआ कहता है—

सीस पगा न झगा तन में, प्रभु जानै को आहि बसै केहि ग्रामा।
धोती फटी सी लटी दुपटी, अरु पाँय उपानहु की नहिं सामा॥
द्वार खड़ो द्विज दुर्बल एक, रह्यो चकि सो वसुधा अभिरामा।
पूछत दीनदयाल को धाम, बतावत अपनो नाम सुदामा॥

इसके छन्द में कवि ने सुदामा का नाम अन्त में रख कर विशष चमत्कार उपस्थित कर दिया है। सुदामा का नाम सुनते ही श्रीकृष्ण नंगे पैरों दौड़ते हुए बाहर आये और उन्हें अन्दर ले गये। उनकी ऐसी दीन दशा देखकर वह कहने लगते हैं।

"हाय ! महादुख पायो सखा, तुम आये न इतै कितै दिन खोये।

इसमें कवि ने सच्चा अनुराग, सच्ची सहानुभूति, समानता का भाव, पारस्परिक आदर सत्कार भावना और संकट काल में एक दूसरे की सहयोग की भावना बड़े ही सुन्दर रूप में दिखलाई गई है इस खण्ड काव्य में कवि ने दरिद्रता का जीता-जागता हुआ यथार्थ चित्रण किया है। हिन्दी साहित्य में ऐसा वर्णन अन्यत्र नहीं हुआ है। सुदामा दीन था, वह दाने दाने को भटकता था। बर्तन तक फूटे थे। इससे-अधिक दीनावस्था क्या हो सकती है।

'या घर तें कबहूँ न गयौ पिय टूटो तवा और फूटी कठौती'

'फूटी एक थारी बिन टोंटनी की झारी हुती,
बाँस की पिटारी औ कथारी हुती टाट की॥
बैटे बिन छुरी औ कमंडल सौ टूक बहौ,
फटे हुते पाये पाटी टूटी एक खाट की॥

भला इससे अधिक दरिद्रता और क्या हो सकती है ऐसे दरिद्र सुदामा की श्रीकृष्ण ने सहायता की और उसे सम्पन्न बनाकर आदर्श मैत्री का परिचय दिया। उन्होंने उसके दरिद्रता जन्य कष्ट का निवारण किया। वह सुदामा की दशा देखकर फूट फूट कर रोने लगे। उनकी अश्रुधारा से ही सुदामा के पैर धुल गये।

"पानी परात को हाथ छुओ नहिं नैनन के जल सों पग धोये॥"

इस प्रकार उन्होंने आदर्श मैत्री का समुज्ज्वल रूप प्रदर्शित किया है। इस वर्णन में भावों की मार्मिक अभिव्यंजना है जो पाठकों के हृदय को सहसा ही अपनी ओर आकर्षित कर लेती है।

सिच्छक हों सिगरे जगको तिय ! ताको कहा अब देति है सिक्छा ।
जे तप के परलोक सुधारत संपति की तिन के नहिं इच्छा ॥
मेरे हिये हरि के पद पंकज बार हजार लें देखि परिच्छा ।
औरनि को धन चाहिए बाबरि, ब्राह्मण को धन केवल भिच्छा ॥
कोदों सवाँ जुरती भरिपेट न चाहति हौं दधि दूध मिठौती ।
सीत वितीतत जो सिसियात तो हौं हठती पै तुम्हें न हठौती ॥
जो जनतीन हितू हरि सो, तुम्हें काहे को द्वारिका ठेले पठौती ।
या घर तै कबहू न गयौ पिय टूटो तवा अरु फूटी कठौती ॥

इन उद्धरणों से यह भली भाँति स्पष्ट हो जाता है कि कवि साधारण से साधारण शब्दों में भी कितना भाव गाँभीर्य भर सकता है । और कथानक में कितनी सजीवता ला सकता है । यही कारण है कि उनका यह लघुकाय खण्ड काव्य भी रस की खान हो गया ।

पात्रों के चरित्र-चित्रण में भी कवि पूर्ण सफल हुआ है । कवि ने सुदामा का चरित्र तीन परिस्थियों में चित्रित किया है । सर्वप्रथम वह नीतिज्ञ, संकोची, भाग्यवादी ब्राह्मण है, वह अपने दुखमय जीवन को सुखमय बनाने के लिए दूसरों के सामने हाथ नहीं पसारना चाहते है ।

"विपति में भूल से मित्र के द्वार न जाइए ।"

किन्तु परिस्थितियों के भयंकर प्रताड़न से सन्तप्त होकर अपनी पत्नी का कहना मानकर वह श्रीकृष्ण की शरण में चले ही जाते हैं ।

"हौं कब आवत हुतो, वाही पठ्यो ठेलि ।"

घर लौटने पर झोंपड़ी को राज प्रसाद में परिवर्तित देख कर वह आश्चर्यचकित हो जाते हैं और भाग्यवाद को कोरी कल्पना मानने लगते है ।

कवि ने श्रीकृष्ण का चरित्र भी इसी प्रकार सुन्दरतम रूप में दिखलाया है । उनके व्यवहार से आदर्श मैत्री प्रगट होती है । कवि ने कृष्ण के मित्र सुदामा के प्रति व्यवहार का दिग्दर्शन कराके जन-समुदाय के

सम्मुख आदर्श मैत्री का सुन्दरतम उदाहरण रक्खा है जिसके अनुसरण से मित्र वर्ग का ही नहीं, अपितु लोक का भी कल्याण हो सकता है। कहाँ झोंपड़ी में रहने वाला अकिंचन सुदामा और कहाँ राज-प्रासादों में भोग-विलास-निमग्न श्रीकृष्ण। इतने वैभवपूर्ण उच्चासन पर होते हुए भी उन्होंने अपने अकिंचन मित्र सुदामा को भुलाया नहीं। वास्तव में सच्ची मित्रता ऐसी ही होनी चाहिए।

आदर्श मित्रता के लिए समानता की भावना नितान्त आवश्यक है। सुदामा के प्रति कृष्ण का व्यवहार इसी बात का द्योतक है। उन्होंने अपने मित्र अकिंचन सुदामा का जो आतिथ्य सत्कार किया वह सर्वथा प्रशस्य है।

भेटि भली विधि विप्रसों, कर गहि त्रिभुवनराय।
अन्तःपुर कौं लै गयै, जहाँ न दूसर जाय॥
मनिमंडित चौकी कनक, ता ऊपर बैठाय।
पानी धरयौं परात में, पग धौवन को लाय॥
जिनके चरनन कौ सलिलल हरत जगत संताप।
पाँय सुदामा विप्र के धोवत ते हरि आप॥

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सुदामा चरित में कवि ने सच्चा अनुराग, सच्ची सहानुभूति, समानता का भाव, घर पर आदर सत्कार, आतिथ्य सत्कार की भावना, संकट काल में मित्र की साहाय्य-भावना आदि सभी बातों को अपनी सुस्पष्ट शब्दावली में भली भाँति सरसाया है। कवि ने विभिन्न परिस्थितियों में अपने को डालकर तद्वत् भावों की स्वाभाविक अभिव्यक्ति इतनी सुन्दरता के साथ की है कि पाठक एवं श्रोता श्रवण-मात्र से ही आनन्द विभोर हो जाते हैं।

भाषा शैली—'सुदामा चरित' की भाषा ब्रज-भाषा है। उसमें कहीं कहीं पर बैसबाड़े की भी छटा दिखलाई पड़ती है। वह सर्वत्र ही सरल, सरस, कोमल, परिष्कृत एवं सुव्यवस्थित है। उसकी भाषा में प्रवाह है। वह प्रसाद गुण से परिपूर्ण है।

"सीस पगा न झगा तन प्रभु, जानै को आहि बसे केहि ग्रामा।
धोती फटी सी लटी दुपटी अरु पाँय उपानहु की नहिं सामा॥
द्वार खड़ो द्विज दुर्बल देखि रह्यो चकि सो वसुधा अभिरामा।
पूछत दीनदयाल को धाम बतावत आँपनो नाम सुदामा॥"

कवि ने कुछ विशेष स्थलों पर शब्दों के रूपों में भी कुछ परिवर्तन किया है, किंतु ऐसे परिवर्तन अधिक नहीं हैं। "मित्रई, पवित्रई, अगत्रई' आदि ऐसे ही बिगड़े हुए रूप हैं। अपने भावों को पूर्ण-रूपेण स्पष्ट करने के लिए कवि ने यत्र-तत्र मुहावरों का भी समुचित प्रयोग किया है। छन्द की तुक मिलाने में भी कवि को सफलता मिली है। इसके लिए उन्हें छन्दों के रूपों में न्यूनाधिक परिवर्तन भी करना पड़ा है। किन्तु यह परिवर्तन कहीं पर भी कर्णकटु नहीं होने पाया हैं। कुछ स्थल ऐसे भी हैं जहाँ संस्कृत की पदावली प्रयुक्त हुई है। ऐसे स्थलों पर भी कवि ने भाषा को सुबोध बनाये रखने का ही विशेष प्रयास किया है। उन्होंने यथा सम्भव समास शैली का भी कम ही प्रयोग किया है।

उसमें क्लिष्ट पदावली तो कहीं पर भी नहीं है। सारे काव्यों में एक दो छन्द ही ऐसे हैं जिसमें कुछ क्लिष्टता दिखाई पड़ती है।

'नौ गुनधारी छः गुन सों, तिगुना - मध्ये जाय।
लायौ चापल चौगुनी, आठौ गुनन गवाँय॥"

कवि की कितनी सुन्दर उक्ति है। सुदामा कहते हैं कि मैं नौतार का यज्ञोपवीत धारण करने वाला और ब्राह्मण के छः गुणों से युक्त रहने वाला (१—यज्ञ करना, २—यज्ञ कराना, ३—पढ़ना, ४—पढ़ाना, ५—दान देना, ६—दान लेना), तीन गुण वाले क्षत्रियों के बीच जाकर अपने ज्ञान के आठों गुणों को (विवेक, वैष्णव, षट् संपत्ति, मुमुक्षता, श्रवण, मनन, निदिध्यासन और समाधि) खोकर केवल अत्यंत चपलता लेकर लौटा हूँ अर्थात् अपने जातिगत स्वभाव को खोकर केवल अशांत और उद्विग्न होकर ही आया हूँ।

"हाल्यौ परयो लोकन में, लाल्यो परयो लोकन में।
चाल्यो परयो चक्रन में, चाउर चबात ही ।।"

"सुदामा-चरित" की सबसे अधिक महत्ता उसकी नाट्यशैली की कथोपकथन प्रणाली है। सुदामा, श्रीकृष्ण और सुदामा की स्त्री उनके प्रमुख पात्र हैं। एक दूसरे के उत्तर प्रत्युत्तर के द्वारा ही कथावस्तु की सम्पूर्ण घटनायें प्रदर्शित की गई हैं। इससे काव्य और भी अधिक सरस और आकर्षक हो गया है। उसे पढ़ते ही ऐसा प्रतीत होने लगता है, मानो उसके पात्र हमारे सम्मुख ही उपस्थित होकर परस्पर बातचीत कर रहे हैं। सुदामा कहते है कि—"विपति परे पै द्वार मित्र के न जाइए।"

तो उनकी पत्नी कहती है :—

नाम लेत चौगुनी गए तें द्वार सौगुनी।
देखत सहस गुनी प्रीति प्रभु मान है ।।

सुदामा :—

"जीवन के तौ है जाके लिए हरिसों अब होहुँ कनाउड़ो जाइकै।"

स्त्री :—

"हूजै कनवड़ो बार हजार लौ, जो पै हितू दीनदयाल सौ पाइए ।।"

यह उनके कथोपकथन की विशेषता है। इसमें उनकी अपनी मौलिकता है। उन्होंने अपनी भावाभिव्यक्ति सरल और सुस्पष्ट शब्दों में की है। उसमें अलंकार विधान भी अधिक नहीं है। कवि ने अपनी भाषा-शैली को चमत्कृत बनाने के लिए अलंकार विधान में अधिक खींचातानी नहीं की है। वे तो उसके मुख से अनायास ही निस्सृत हुए हैं। इसी से उनमें अपूर्व सौन्दर्य है। इसी से उसमें सुबोधता तथा सरसता पर्याप्त मात्रा में है। उसमें छायावादी कवियों की भाँति कहीं पर भी दुरूहता नहीं है। वस्तुतः सर्वोत्तम रचना में सीधे साधे ढंग से भावों की अभिव्यक्ति की जाती है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जी ने भी इसी मत का समर्थन करते हुए भाषा की सादगी को कविता का गुण माना है। सुदामा-चरित इन सब गुणों से परिपूर्ण है।

———

रीतिकाल

(१७००-१९०० वि०)

भक्ति-काल में कबीर, जायसी, सूर, तुलसी आदि सुप्रसिद्ध महात्माओं ने चिरस्थायी काव्य ग्रन्थों की रचना करके अपने उच्चकोटि के आदर्शों एवं आधार-भूत सिद्धान्तों का प्रचार किया। इसी युग में ब्रज-साहित्य के कुछ कविगण कृष्ण-राधा प्रेम के वर्णन में शृंगारादि रसों का अतिशय प्रयोग करने लगे। उन्होंने उनके विलास, तथा गोपियों के विरह का भी अतिरंजित वर्णन किया। साहित्य की दृष्टि से सूर का संयोग शृंगार और वियोग शृंगार सर्वोत्कृष्ट है। इधर कुछ कवि गण अपनी कविता में कला का भी अधिक प्रयोग करके उसे चमत्कार-पूर्ण बनाने का प्रयत्न करने लगे। उन्होंने रस अलंकारादिकों का भी सुन्दर वर्णन किया। उधर भक्ति के प्रवाह में कुछ कवियों की भाषा में साहित्यिक दोष आने लगे। भक्त कवियों को तो अपने भाव प्रगट करने थे, उन्हें भाषा की विशेष चिन्ता न थी। अतएव इसमें भी कुछ सुधार की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। अतएव कुछ विद्वान आगे बढ़े और कविता के आधार भूत सिद्धान्तों का निरूपण करने लगे। कुछ कवि रसालंकार निरूपण करके नायक नायिका के भेद-प्रभेद बतलाकर उनका साँगोपाँग वर्णन करने लगे। इसी से इस काल को रीतिकाल कहा जाता है।

इस युग की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस समय शृंगारी भावना की ही प्रधानता रही। काव्य का सम्बन्ध जीवन से रहा तो, किन्तु लौकिक हास-विलास-पूर्ण वर्णन के कारण वह मर्यादा-हीन हो गया। उस युग के अधिकाँश कवि रसादि निरूपण के लिए शृंगारी ग्रन्थों की रचना करने लगे। आगे चलकर कुछ कवि तो केवल

नायक नायिकाओं का वर्णन कर लेना-मात्र अपना कर्तव्य समझने लगे। इसी युग में शृंगार रस के आलंबन और उद्दीपन के लिए बड़े ही सरस उदाहरणों का निरूपण किया गया। इस निरूपण में कहीं-कहीं तो इतनी अधिक अश्लीलता बढ़ गयी कि वह सभ्य समाज के काम का न रह गया। इस विषय में इतना और जान लेना चाहिए कि रीतिकाल का विशेष सम्बन्ध तत्कालीन राजा-महाराजाओं से था। वे भोग-विलासों में लिप्त रहते थे। और शृंगारी कविता को सुनना भी चाहते थे। इसी से सम-सामयिक कवियो ने अपने अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के लिए अश्लील चित्र तक चित्रित कर दिए। इस प्रकार अलंकाराधिक्य से काव्य का वास्तविक रूप अनावृत न रह सका। नख-शिख वर्णन, षट्-ऋतु वर्णन, बारह मासा आदि के वर्णन को अधिक शृंगारी बनाने के लिए अश्लीलता को चरम सीमा तक पहुंचाया जाने लगा। प्रकृति का वास्तविक रूप तो साहित्य में अनावृत हुआ ही नहीं। इसी विषय में शुक्ल जी लिखते है कि प्रकृति की अनेकरूपता, जीवन की भिन्न २ बातों तथा जगत के नाना रहस्यों की ओर इस काल के कवियों की दृष्टि नहीं जाने पाई। इसी से उनके वर्णन अपूर्ण से रहे और तत्कालीन साहित्य सदोष हो गया।

उसी समय एक परिपाटी और प्रचलित हुई। कविगण-रीति ग्रन्थ लिखकर आचार्य बनने का प्रयास करने लगे। इस साधना में उन्हें कला से अधिक काम लेना पड़ा। वे शास्त्र के अङ्ग-उपाङ्गों का विशद वर्णन करने लगे। उन्होंने संक्षेप में अलंकार और रसों के लक्षण लिखे और उनके उदाहरणों के लिए उपयुक्त छन्दों द्वारा अपना कवित्व प्रदर्शन करना भी प्रारम्भ कर दिया। वे कवित्त और सवैया आदि द्वारा इस प्रकार के ग्रन्थों की रचना करने लगे। उनकी यह प्रतिपादन शैली पद्य-बद्ध थी, इसी से उनके अभीष्ट तत्व का विकास समुचित रूप से न हो सका। उनकी कविता कवित्व-प्रदर्शन की प्रबल उत्कण्ठा के कारण "स्वान्तः सुखाय" न हो सकी। वे शास्त्री विधान तक को त्याग कर संयोग और वियोग की मुक्तक रचना कर लेने में ही अपने कर्तव्य की

इति श्री समझने लगे। केवल नख शिख वर्णन एवं नायक नायिकाओं के वर्णन में पोथे के पोथे रचे जाने लगे।

कवियों की इस मनोवृत्ति का प्रभाव भाषा पर भी पड़ा। वह भी उन्ही के समान लावण्य की लोच से सुसज्जित होने लगी। भाषा का चमत्कार इसी युग में देखने को मिल सकता है। उसमें सजीव और प्रवाह युक्त कोमल कान्त पदावली की रचना होने लगी। इस प्रकार इस काल की निम्नलिखित मुख्य विशेषताएँ हैं—

१—शृङ्गार रस की प्रधानता।

२ अलंकार आदि काव्यागों की विवेचना तथा नायिका भेद और नख शिख का विशद वर्णन।

३—छन्दों में कवित्त और सवैयों की प्रधानता, तथा कवित्तों में अधिक अंशों में वीर रस का समावेश, तथा सवैया आदि का शृङ्गार और करुण रस से युक्त होना।

४—कवियों में प्रेम की मात्रा की अधिकता।

५—ब्रजभाषा की प्रधानता।

इस युग के प्रधान कवि बिहारी ने दोहों में अपने भाव गाभीर्य का परिचय दिया। इस युग में कुछ वीर रस के भी कवि हुए, इनमें भूषण और बेनी विशेष प्रसिद्ध हैं। शृङ्गारी कवियों में केशव, त्रिपाठी बंधु, बिहारी, मंडन, कुलमति, सुखदेव, देवदत्त आदि विशेष प्रसिद्ध हैं।

रीति-काल में काव्य सम्बन्धी सिद्धान्त निरूपण तथा काव्य की रीति के विवेचन की प्रधानता होते हुए भी कुछ कमी रह गयी। इस युग में शब्द शक्ति का विवेचन सम्यग रूप से न हो सका। हमारे रीति ग्रन्थकार सभी सिद्धान्तों का निरूपण पद्य में करते थे, गद्य में उनकी विस्तृत व्याख्या नहीं करते थे, इसीसे सैद्धान्तिक रूढ़ियाँ अस्पष्ट सी रह गयीं हैं। उनमें गम्भीर तत्वों का विवेचन न हो सका। इस युग में नाट्यशास्त्र का भी विवेचन नहीं किया गया। इस प्रकार तत्कालीन काव्य एकाँगी ही रहा।

———

आचार्य केशवदास

केशवदास का जन्म संवत् १६१२ में हुआ था। आपके पिता का नाम पं० काशीनाथ था। आप सनाढ्य ब्राह्मण थे। ओरछा-नरेश महाराज रामसिंह के भाई इन्द्रजीतसिंह की सभा में रहते थे। दरबार में इनका बड़ा मान था। इनके परिवार में सभी संस्कृत भाषा के ज्ञाता थे। इनके भाई स्वयं कवि थे। ऐसी परिस्थिति में रहकर यह अपने समय के साहित्य शास्त्रज्ञ कवि माने जाते हैं। आपका सम्पूर्ण जीवन ओरछा नरेश के दरबार में ही व्यतीत हुआ। राजा का आपके ऊपर बड़ा विश्वास था। आपने स्वयं लिखा है कि वह राजा की कृपा से राज्य सा स्वयं कर रहे हैं।

रचित ग्रंथ—आपके रचे हुए ग्रन्थ निम्नलिखित हैं—कवि प्रिया, रसिक प्रिया, रामचन्द्रिका, विज्ञान गीता, वीरसिंह देव चरित्र, रतन बावनी और जहाँगीर जस चन्द्रिका।

रामचन्द्रिका एक प्रबन्ध काव्य है। उसमें भगवान राम के पावन चरित्र का वर्णन है। रतन बावनी वीर रस का काव्य है। कुछ विद्वानों का मत है कि एक बार केशव तुलसी से मिलने गये, तुलसीदास वहाँ मिले नहीं। इन्होंने समझा कि तुलसी को एक कितविया 'रामचरित मानस' लिखकर गर्व हो गया है, इसलिए इन्होंने आते ही रामचन्द्रिका लिख डाली।

केशव की भाषा बुन्देलखण्डी से प्रभावित ब्रजभाषा है। उन्होंने संस्कृत भाषा का भी पूरा सहारा लिया है अतः आपकी ब्रजभाषा संस्कृत-गर्भित ओज-पूर्ण भाषा हो गई है। छन्दों पर आपको पूरा-पूरा अधिकार है, एक छोटे से छोटे छन्द को लेकर बड़े से बड़े छन्द को लिखने की पूर्ण क्षमता है। रामचन्द्रिका में तो आपने स्वयं लिखा है "रामचंद्रि

की चन्द्रिका वर्नत हौं । बहु छन्द ।" केशव की भाषा ओज-पूर्ण है। वीर रस आपका प्रधान रस है।

पढ़ौं, वरंचि मौन वेद, जीव सीर छंडिरे।
कुबेर बेर कै कही, न जच्छ भीर भंडिरे॥
दिनेश जाइ दूरि बैठि, नारदादि संग ही।
न बोलु चंद मंद बुद्धि, इन्द्र के समान हीं॥

अलंकार तो केशव की भाषा का प्राण है केशव स्वयं इस बात में विश्वास नहीं करते कि बिना अलंकारों के भी काव्य रचना हो सकती है। एक स्थान पर आपने कहा है "भूषन बिन न विराजहीं कविता बनिता मित्त।" अतः सभी मुख्य मुख्य अलङ्कारों का बड़ी प्रचुर मात्रा में आपके काव्यों में प्रयोग हुआ है जिससे भाषा का सौन्दर्य बहुत बढ़ गया है।

कविता की विशेषता—केशव ओरछा नरेश के दरबारी कवि थे। अतः एक दरबारी व्यक्ति में जो गुण होने चाहिये, वे सभी केशव में विद्यमान थे। वे चमत्कार-प्रदर्शन का सदैव प्रयास करते थे। केशव का सा चमत्कार-प्रदर्शन अन्यत्र नहीं मिलता।

साहित्य संसार में केशव के काव्यों को लेकर सदैव वादविवाद होता रहता है कोई कहता है कि केशव को प्रबन्ध काव्य लिखने की क्षमता नहीं थी। किसी-किसी का मत है कि कथोपकथन में केशव मर्यादा का कहीं कहीं उलंघन कर गये हैं और कहीं कहीं पर उनके कथोपकथन को देखकर साधारण कवि भी लज्जित हो जावेगा। प्रकृति निरीक्षण में सहृदयता की कमी बतलाई जाती है। दूसरा पक्ष ऐसा भी है जो केशव को आचार्य मानता है और इन सभी लगाये गये आक्षेपों को निराधार सिद्ध करने पर तुला हुआ है। हमें यहाँ न किसी तर्क में पड़ना है और न किसी की शंका का समाधान ही करना है।

निःसन्देह दो पात्रों में बर्तालाप कराते समय केशव ने अपने आचार्यत्व का अच्छा प्रदर्शन किया है। एक ही छन्द में प्रश्न और

उत्तर सुन्दरता के साथ दिखला देना केशव ही की शक्ति है। रावण के दरबार में अंगद-रावण सम्वाद बड़ा ही रोचक हुआ है। सम्वादों में जितनी सफलता केशव को मिली है उतनी किसी अन्य कवि को नहीं। आपके काव्य संवादों से भरे पड़े हैं। एक स्थान पर सभा में रावण और अङ्गद का वर्तालाप देखिये:—

"राम को काम कहा ? रिपुजीतहिं कौन कबै रिपु जीत्यो कहाँ ?
बालि बली, छलसों, भृगुनन्दन गर्व हरयो द्विज दीन महा ।।"

इस प्रकार संवादों से सम्पूर्ण रामचन्द्रिका भरी पड़ी है। इन संवादों के कारण रामचन्द्रिका में नाटक का सा आनन्द मिलता है। तुलसी के संवादों में भी ऐसी सजीवता और विदग्धता नहीं है।

चित्रोपम वर्णनों की प्रचुरता रामचन्द्रिका में सर्वत्र मिलेगी। अनुसूय्या का वर्णन देखिये:—

सिर सेत विराजै, कीरति राजै, जनु केशव तप बल की,
तनु वलित पलित जनुसकल बासना निकल गई थल-थल की,
काँपति शुभ श्री की सब अंग सीवाँ देखत चित भुलाहीं,
जनु अपने मन प्रति यह उपदेशति या जग में कछु नाहीं।

शृंगार के वर्णन में, पूर्व राग, संयोग और वियोग है। तीनों ही अवस्थाओं का बड़ा विशद वर्णन केशव ने किया है। शुक्ल जी ने एक स्थल पर कहा है कि "शृंगार के उपादानों का विभाव अनुभाव, संचारियों का सूक्ष्म,तार्किक तथा शास्त्रीय विवेचन नहीं हुआ है, रस का काव्य से क्या सम्बन्ध है, रस की निष्पत्ति विभवादिकों से कैसे होती हैं, मानों और रसों का क्या सम्बन्ध है रसाभास तथा भावाभास क्या है, इत्यादि विषयों को केशवदास ने छोड़ ही दिया है।" उन्होंने तो काव्य के केवल कला पक्ष को ही अपनाया है। इसीसे उनकी रचनाओं में यथोचित सम्बन्ध निर्वाह भी नहीं हुआ है और भाषा के प्रवाह में भी शिथिलता आगई है। वह केवल आचार्य ही बनना चाहते थे, इसीसे लक्षण

ग्रन्थ लिखकर देना वह अपना कर्तव्य समझते थे। इसीसे उनकी रचनाएँ दोषपूर्ण हो गयीं हैं।

इतना होते हुए भी उनकी कल्पना शक्ति अत्यन्त प्रबल थी, उसकी उड़ान में उन्होंने जो चित्र खींचे हैं वे उच्चकोटि के एवं सुन्दर हैं। उनका पद विकास भी असाधारण है। उनके विषय में पं० रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं–"जो हो, शास्त्रीय पद्धति पर साहित्य मीमाँसा का मार्ग अच्छी तरह खोलने के लिए हिन्दी साहित्य आचार्य केशव का सदा ऋणी रहेगा। सूर, तुलसी आदि की सरसता एवं तन्मयता चाहे इनकी वाणी में न हो, पर रस अलंकार आदि के विस्तृत भेद निरूपण आदि के द्वारा साहित्य के सम्यक पर्यालोचन का गोरव इन्हीं को प्राप्त है।' इसीसे हिन्दी के नवरत्नों में भी उनको उच्चासन ही दिया गया है।

———

कविवर भूषण

भूषण का जन्म तिकवाँपुर नामक ग्राम में, जो कानपुर जिला में है सम्वत् १६७० में हुआ था। ये जाति के कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम रत्नाकर त्रिपाठी था। कुछ लोगों का यह भी विचार है कि प्रसिद्ध मतिराम कवि और चिन्तामणि इनके सगे भाई थे।

भूषण ने अपने जीवन के प्रथम बीस वर्ष व्यर्थ ही नष्ट कर दिये थे। ये प्रारम्भ में कुछ भी पढ़े लिखे नहीं थे। ऐसा कहा जाता है कि एक बार इन्होंने भोजन करते समय अपनी भाभी से नमक माँगा, उन्होंने कुछ कटु शब्द कह दिये, जिनकी चोट इनके हृदय पर ऐसी लगी कि इन्होंने घर बार छड़ दिया और विद्याध्ययन करने के पश्चात कविता लिखना प्रारम्भ किया और शीघ्र ही भूषण के नाम से यह प्रसिद्ध हो गये। इनका वास्तविक नाम क्या था, यह आज तक ज्ञात न हो सका। भूषण तो इनकी उापधि थी जिसे चित्रकूट के सोलंकी राजा ने इन्हें दी थी। ये महाराज छत्रसाल के राजकवि थे। इनकी कविता पर प्रसन्न होकर छत्रसाल ने इनकी पालकी में अपना कंधा लगाया था। सहाराज शिवाजी इनके बड़े भक्त थे। उन्होंने इनकी कविता पर प्रसन्न होकर कई गाँव पुरस्कार स्वरूप प्रदान किये थे। ये अन्त तक छत्रपति शिवाजी और महाराज छत्रसाल दोनों के कृपा पात्र रहे। इन्होंने स्वयं कहा कि "सिवा को बखानौ कै बखानौ छत्रसाल को" इनकी मृत्यु सम्वत् १७७२ माना जाता है।

इनकी लिखी हुई तीन पुस्तकें प्राप्त हुई हैं—'शिवराजभूषण', 'शिवाबावनी',और छत्रशाल दसक'। इनके अतिरिक्त तीन 'ग्रन्थ, भूषण उल्लास','दूषण उल्लास' और 'भूषणहजारा' और कहे जाते हैं किन्तु ये ग्रन्थ आज तक प्राप्त नहीं हुए।

भूषण की भाषा ब्रज है, पर उन्होंने आवश्यकता पड़ने पर अरबी, फारसी, बुन्देलखण्डी और खड़ीबोली के शब्दों का भी प्रयोग किया है। भूषण ने शब्दों की तोड़ मरोड़ भी बहुत की है कहीं कहीं तो उनका स्वरूप बहुत ही विकृत कर दिया है। भाषा में अलङ्कारों की छटा पूर्ण रूप में मिलती है। कहीं २ तो केवल अलङ्कार लाने के उद्देश्य से ही शब्दों की तोड़ मरोड़ की गई है। भाषा में सरसता और मधुरता का सर्वथा अभाव है पर वह वीरतापूर्ण भावों को प्रकट करने के लिए बहुत अधिक उपयुक्त हैं। उन्होंने ब्रजभाषा का ही विशेष रूप से प्रयोग किया है, किन्तु यत्र तत्र खड़ीबोली, प्राकृत, पंजाबी, बुन्देलखण्डी तथा फारसी शब्दों का भी यथोचित प्रयोग हुआ है।

"भुज भुजगेसकी व संगिनी भुजंगिनी सी,
खेदि खेदि खाती दीह दारुन दलन के।
वखतर पाखरिन बीच धसि जाति मीन,
पैरि पारिजाति परवाह ज्यों जलन के॥
रैया राय चंपति को छत्रसाल महाराज,
भूषन भनत को बखानि यौं बलन के।
पच्छी परछीने ऐसे परे परछीने वीर,
तेरी बरछीने बर छीने हैं खलन के॥"
"लोन्हों अवतार करतार के कहें ते कलि,
म्लेच्छन हरन उधरन भुव भार को।
चण्डी ह्वै घुमंडि अरि चंड मुंड चाबि करि,
पीवत रुधिर कछु लावत न बार को॥

"हिन्दुन के पति सों न विसात, सतावत हिन्दु गरीवन पाय कै।
लीजै कलंक न दिल्ली के बालम, आलम आलमगीर कहायकै॥"

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उनकी पदावली वीररस की हुङ्कार

से ओत-प्रोत है। उनके श्रवण-मात्र से कायर से कायर का भी शरीर रोमांचित हो जाता है।

भूषण की शैली कवित्त और सवैयों की है। कहीं कहीं दोहों और रोलों में भी आपने भाव प्रकट किये है। यह शैली बहुत ओजपूर्ण है और वीररस के लिए जो भूषण का मुख्य रस था, उपयुक्त है।

कविता की विशेषता:— भूषण वीररस के कवि हैं उनका सम्पूर्ण साहित्य वीररस में डूबा हुआ है। भूषण जिस ससय साहित्य क्षेत्र में अवतरित हुए उस समय शृंङ्गार का बोलबाला था। यवनों के संसर्ग में आकर हिन्दी भाषा विलासमयी हो गई थी। भूषण ने उस समय की उस प्रवाहित धारा में वह बाँध लगाया कि एक नया युग ही भारत में आ गया। इसलिए भूषण को राष्ट्रीय कवि माना जाता है। तत्कालीन राष्ट्रीयता और देश प्रेम से भूषण की कविता ओत-प्रोत है। भूषण अपने युग के प्रतिनिधि कवि माने जाते है। सच तो यह है शिवाजी में राष्ट्रीयता की भावना भरने का बहुत कुछ श्रेय भूषण को ही है।

निःसन्देह भूषण ने शिवाजी और छत्रसाल की वीरताओं का वर्णन किया है किन्तु इनका वर्णन कहीं भी झूठी खुशामद नहीं जान पड़ेगा। इन दो वीरों को जिस उत्साह के साथ सारी हिन्दू जनता स्मरण करती है उसी का भूषण ने अपने छन्दों में चित्रण किया है। इसीलिए भूषण के वीर-रस पूर्ण उद्‌गार सारी जनता के गले का हार बन गए।

भूषण ने शृङ्गाररस के भी दो चार कवित्त लिखे किंतु उनकी संख्या नहीं के बराबर है। भूषण का सम्पूर्ण साहित्य वीर रस में डूबा हुआ है। इनका साहित्य अमर साहित्य है। वह छत्रसाल या शिवाजी का नहीं वरन् सम्पूर्ण हिंदू जनता का साहित्य हैं और यह साहित्य सदैव हिंदू जनता को प्रोत्साहित करता रहेगा।

'शिवराज भूषण' अलङ्कार ग्रन्थ के रूप में बनाया है किन्तु इसे अधिक सफल काव्य नहीं कहा जा सकता।

भूषण हिन्दी साहित्य के उन अमर कवियों में से हैं जिन्हें प्रत्येक

महाकवि देव

जीवन परिचय—महाकवि देव का पूरा नाम देवदत्त था, देव उनका उपनाम था। उनका जन्म संवत् १७३० विक्रमी में हुआ था:—

शुभ सत्रह सै छियालिस, चढ़त सोरहीं वर्ष।
कढ़ी देव मुख देवता, भाव विलास सहर्ष॥

अर्थात् संवत् १७४६ वि० में उन्होंने भाव-विलास की रचना की, उस समय वह १६ वर्ष के थे। वह सनाढ्य ब्राह्मण थे। कहा जाता है कि उनका जन्म इटावा में हुआ था, किन्तु बाद में मैनपुरी आकर कुसमरे में बस गये। उनके परिवार के व्यक्ति इस समय भी कुसमरे में हैं। देव की कुछ हस्त-लिखित प्रतियाँ भी उनके पास सुरक्षित हैं। वह एक स्वाभिमानी आशु कवि थे किन्तु किसी उपयुक्त आश्रयदाता के न मिलने के कारण न तो कहीं पर स्थिर ही रह सके, और न सुख-पूर्वक जीवन यापन ही कर सके। इस प्रकार उनका जीवन एक प्रकार के संघर्ष और एक प्रकार की चिन्ता से व्याप्त रहा है। उनके अन्तिम आश्रयदाता पिहानी के अकबर अली खाँ थे। उनका समय संवत् १८२४ वि० से माना जाता है। संवत् १८२४ में ही उन्होंने अकबर अली खाँ को अपना "सुख सागर तरंग" ग्रन्थ समर्पित किया। इसके उपरान्त का कोई भी ग्रन्थ आज तक उपलब्ध नहीं हुआ। इसी से यह अनुमान लगाया जाता है कि महाकवि देव सम्वत् १८२४—२५ के लगभग परलोक सिधारे होंगे।

रचनाएँ—महाकवि देव ब्रजभाषा के एक समृद्ध कवि थे उनके लिखे हुए ७५ ग्रन्थ बतलाये जाते हैं। उनमें से अब तक केवल २५ ग्रन्थ ही उपलब्ध हो सके हैं।—

१—भाव विलास २—अष्टयाम ३—भवानी विलास ४—कुशल विलास ५—प्रेमचन्द्रिका ६—जाति विलास ७—रस विलास ८—शब्द रसायन ९—सुखसागर तरंग १०—नीतिशतक ११—सुजानविनोद १२—राग रत्नाकर १३—देव चरित १४—सुन्दरी सिन्दूर १५—शिवाष्टक १६—प्रेम तरंग १७—देव माया प्रपंच १८—देवशतक १९—वृक्षविलास २०—पावस विलास २१—राधिका विलास २२—सुकाल विनोद २३—रामानन्द लहरी २४—प्रेम दीपिका २५—नख-शिख प्रेम दर्शन।

'काव्य रसायन' रस अलंकार आदि का उत्कृष्ट ग्रन्थ है। "भाव विलास" भी एक उत्कृष्ट रीति ग्रन्थ है। उन्होंने "प्रबोध-चन्द्रोदय" नाटक के आधार पर 'देव माया प्रपंच' नाटक में धर्म की विवेचना की और 'सुखसागर तरंग' में नायिका भेद का निरूपण किया।

भाषा-शैली—देव की भाषा साहित्यिक ब्रजभाषा है। कहा जाता है कि "उनको जो भाषा मिली वह अत्यन्त समृद्ध थी। सूर ने उसकी निखिल शक्तियों का विकास करके उसको अत्यन्त व्यापक बना दिया था। हित हरिवंश और नन्ददास ने उसकी पद योजना को संस्कृत की शब्द-मणियों से जड़ दिया था, बिहारी ने उसके समास-गुण को पूर्ण विकास पर पहुँचा दिया था और मतिराम ने उसको सर्वथा स्वच्छ और परिष्कृत कर दिया था। देव ने अपने उत्तराधिकार का पूर्णतया सदुपयोग करते हुए उसको और भी समृद्ध किया।

इससे स्पष्ट है कि महाकवि देव की भाषा अत्यन्त प्राञ्जल और साहित्य-श्री की वर्धक है।

आई बरसानै तैं बुलाई वृषभानु सुता,
निरखि प्रभानि प्रभा भानु की अथै गई।
चक चकवाकनि के चकाये चक चोरन सों,
चौंकत चकोर चकाचौंध सौं चकै गई॥
देव नन्द-नन्दन के नैननि अनंद मई,
नन्द जी के मंदिरन चन्द मई कै गई।

कजनि कलिन गई कुंजनि अलिन मई,
गोकुल की गलिन नलिन मई कै गई ॥

कितनी सुन्दर एवं सरस पद योजना है। भाषा की यह सरसता जन-हृदय को सहसा ही मोह लेती है। उन्होंने संस्कृत तत्सम पदावली का भी प्रयोग किया है किन्तु वह पाण्डित्य प्रदर्शन की भावना से सर्वथा अछूती है।

"खंजन मीन मृगीन की
छीनी दृगंचल चंचलता निमिषा की।
देव मयंक के अङ्क की पङ्क निसंक
लै कज्जल लीक लिखा की ॥"

उन्होंने अपने भावों को स्पष्ट करने के लिए कहावतों और लोकोक्तियों का भी आश्रय लिया है किन्तु इनसे काव्य की सरसता में किसी भी प्रकार की कमी नहीं आई है।

"चाहत उठ्योई, उठि गई सो निगोड़ी नींद,
सोय गये भाग मेरे, जागि वा जगन के।"
"चाह भई फिरौं या चित मेरे की, छाँह भई फिरौं नाह के पीछे।"
"ओस की आस बुझै नहिं प्यास विसास डसै जनि काल फनिन्द के।"

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि महाकवि देव का भाषा पर पूर्ण अधिकार था। उन्होंने सभी उपलब्ध साधनों द्वारा अपनी पदावली में सरसता लाने का ही प्रयास किया।

देव रीति ग्रन्थकार थे, आचार्य थे इसी से उन्होंने सभी रसों पर छन्द रचना की। वे एक शृंगारी कवि थे, इसी से उनकी रचनाओं में शृंगार रस की छटा देखने को मिलती है। उन्होंने अपनी कविता का मुख्य विषय प्रेम ही रक्खा था। उन्होंने स्वयं कहा है।

"बाणी को सार बखान्यौं शृंगार,
सिंगार को सार किसोर किसोरी ॥"

देव ने शब्दालंकारों की अपेक्षा अर्थालंकारों को अधिक महत्व दिया है, और अर्थालंकारों में उपमा और स्वभावोक्ति को प्रधानता दी है। उन्होंने शब्द शक्ति की विवेचना भी गम्भीरता के साथ की है। उनके मत से चार शब्द शक्तियाँ हैं—अभिधा, लक्षण, व्यंजना और तात्पर्य ! जबकि अन्य आचार्यों के मत से प्रथम तीन ही हैं। इस प्रकार रीति-काव्य के सिद्धान्तों के प्रतिपादन में देव को अन्य कवियों की अपेक्षा अधिक सफलता मिली है।

देव की कविता में विराग भावना भी है, किन्तु वह सूर-तुलसी-कबीर की भावना के समान उत्कृष्ट नहीं है।

ऐसौ जु हौं जानतौ कि जैं है तू विषै संग,
एरे मन मेरे हाथ पाँव तेरे तोरतो।
आज तौ हौ कत नर नाहन की नाही सुन,
प्रेम सों निहारि हेरि बदन निहोरतो॥
चलन न देतो चित चंचल अंचल करि,
चाबुक चित बनीति मारि मुँह मोरतो।
भारौ प्रेम पाथर नगारो दै गरेसौ बाँधि,
राधावर विरद के वारिधि में बोर तो॥

इस प्रकार संक्षेप में कहा जा सकता है कि महाकवि देव का स्थान हिन्दी साहित्य में बहुत ऊँचा है। वह अपनी श्रेणी के सर्वोत्कृष्ट कवि थे। उन्होंने अपनी उत्कृष्ट रचनाओं द्वारा हिन्दी साहित्य की जो सम्वर्धना की है वह स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगी। यदि उन्हें उचित एवं पर्याप्त समाश्रय उपलब्ध हो जाता, तो उनकी निश्चिन्तता बढ़ जाती और फलस्वरूप एक विशाल एवं अधिक समृद्ध साहित्य का सृजन होता, जिससे हिन्दी-साहित्य चमत्कृत हो उठता, और वे अपने युग के प्रवर्तक बन जाते। फिर भी उनकी यह सेवा सर्वथा प्रशस्य है।

———

पद्माकर

जीवन परिचय—कविवर पद्माकर रीतिकाल के उत्तरार्द्ध काल के प्रतिनिधि कवि हैं। उनका वास्तविक नाम प्यारेलाल था। उनका जन्म बाँदा में संवत् १८१० विक्रमी में हुआ था। वह मोहनलाल भट्ट के सुपुत्र थे। भट्टजी स्वयं भी प्रसिद्ध कवि थे। वह सहृदय समाज में सर्वत्र समादृत भी थे। राजा महाराजाओं के यहाँ भी उनका विशेष आदर होता था। उनसे इन्हें अच्छी जागीर भी मिली थी। उन्हीं के प्रभाव से पद्माकर की भी धाक जम गयी। वह प्रखर बुद्धि वाले तो थे ही, अल्पावस्था में ही सरस कविता करने लगे। कहा जाता है कि केवल १६ वर्ष की आयु ही में उन्होंने इस छन्द की रचना की थी :—

संपति सुमेर की कुबेर की जु पावै ताहि,
तुरत लुटावत बिलम्ब उर धारै ना॥
कहै पद्माकर सुहेम हय हाथिन के,
हल के हजारन के वितर विचारैं ना॥
गंज गज बकस महीप रघुनाथ राय,
याहि गज धोके काहु को देइ डारैं ना॥
याही डर गिरजा गजानन गोइ रही,
गिर ते गरे तैं निज गोद तैं उतारैं ना॥

कितना सरस एवं भाव पूर्ण छन्द है।

वह कुछ समय तक गोसाईं अनूपगिरि उपनाम हिम्मत बहादुर के आश्रम में भी रहे और "हिम्मत बहादुर विरदावली।" में उन्होंने उनका यशगान किया। यह ग्रन्थ वीर-रस से परिपूर्ण है। उन्होंने कुछ समय

तक जयपुर के महाराज जगतसिंह के आश्रय में रहकर उन्हीं की प्रशंसा में "जगद्विनोद" की रचना की इसके उपरान्त वह ग्वालियर के महाराज दौलतराव सिन्धिया के दरबार में रहने लगे। किन्तु जीवन के अन्तिम दिनों में वह बाँदा चले आये और वहीं रहने लगे। वृद्धावस्था में उन्होंने वैराग्य ले लिया। इसी समय उन्होंने "प्रबोध पचासा" लिखा।

कहा यह जाता है कि मृत्यु के कुछ ही दिन पूर्व वह कानपुर चले आये और गंगाजी के किनारे गंगा स्नान करते हुए समय बिताने लगे। गंगा स्नान से उन्हें कुष्ट रोग से भी मुक्ति मिल गई। इसके उपलक्ष में उन्होंने "गंगा लहरी" और 'राम रसायन' की रचना की। इस प्रकार ८० वर्ष पूर्ण करके वह सम्वत् १८९० में महाप्रस्थान कर गये।

रचनाएं—इस प्रकार पद्माकर की निम्नलिखित प्रसिद्ध रचनाएँ हैं :—

हिम्मत बहादुर विरदावली, पद्माभरण, गनगौर, जगद्विनोद, गंगालहरी, रामरसायन।

भाषा-शैली—पद्माकर की भाषा विशुद्ध ब्रजभाषा है। उसमें एक प्रकार का प्रवाह है और है सरसता, जो पाठकों को सहसा ही मुग्ध कर लेती है। उनके शब्दों में अपूर्व चमत्कार है। उनकी वीर रस की पदावली बड़ी प्रभावशालिनी और ओजस्विनी है। उसे पढ़कर एवं सुन कर हृदय फड़कने लगता है।

"बांका नृप दौलत अलीजा महाराज कबौं,
साजि दल पकरि फिरंगिन दबाबैगौ।
दिल्ली दइ-ट्ठि, पटना हू को झपट्टि करि,
कबहूक लत्ता कलकत्ता को उड़ाबैगो॥

वीर रस के वर्णन में उन्होंने कहीं-कहीं परुष वर्णों का भी प्रयोग किया है, किन्तु ऐसे स्थल अधिक नहीं हैं :—

"मस्ती की मड़ामढ़ जड़ाजड़ जंजीरन की,
पत्रों की पड़ापड़ गरज्जों की गड़ागड़ी।
धक्कौं की धड़ाघड़ अड़ग की अड़ाअड़ में,
ह्वै रहै कड़ाकड़ सुदन्तों की कड़ाकड़ी॥"

कवि का भाषा की सभी शक्तियों पर पूर्ण अधिकार है। इसी से वह स्निग्ध, मधुर, सुललित पदावली में भाव भरी प्रेम मूर्ति खड़ी कर सका है। अलंकारों की अपूर्व योजना से वह और भी अधिक चमत्कृत हो उठी है। स्वर्गीय रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं :—

"कहीं तो इनकी भाषा स्निग्ध, मधुर, पदावली द्वारा एक सजीव भाव भरी प्रेम मूर्ति खड़ी करती है, कहीं भाव या रस की धारा बहाती है, कहीं अनुप्रासों की ललित झंकार उत्पन्न करती है, कहीं वीर दर्प से क्षुब्ध वाहिनी के समान अकड़ती और कड़कती हुई चलती है और कही प्रशान्त सरोवर के समान स्थिर और गम्भीर होकर मनुष्य जीवन की विश्रान्त—छाया दिखाती है।"

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि पद्माकर जी की भाषा में भी वैसे ही अनेक रूपों की उक्तियाँ हैं जैसे गोस्वामी तुलसीदास जी की भाषा में हैं। उन्होंने उर्दू फारसी आदि अन्य भाषाओं के शब्दों का भी यत्र-तत्र प्रयोग किया है;—

"आरस सों आरत, संभारत न सीस पट,
गजब गुजारति गरीवन की धार पर।
कहै पद्माकर सुरा सों सुरसार तैसे,
विथुरि विराजें बार हीरन के हार पर॥
छाजत छवीले छिरी छहरि छए के छोर,
भोर उठि आई केलि मन्दिर के द्वार पर।
एक पग भीतर औ एक देहरी पै धरे,
एक कर कंज, एक कर है किवार पर॥

दगादार दोष दीन्ह दारिद बिलाइ गये,
किंकर के फंदहिबिन छोरे छुटि छुटि गे।
सुजन सुखारे करे पुन्य उजियारे अति।
पतित कहारे भवसिन्धु ते उधारे हैं॥
काहू ने न तारे तिन्हें गंग तुम तारे,
और जेते तुम तारे तेते नभ में न तारे हैं॥
देखु यह देवनदी कीन्हें सब देव, यातें।
दूतन बुलाइ कै विदा से वेगि पान दै॥
फारि डारु फरदन राखु 'रोजनामा कहुँ,
खाता खति जान दै बही को बहि जान दै॥"

उनकी भाषा स्पष्ट और साफ़ सुथरी है; उसमें अवधी, ब्रज, बुन्देलखण्डी का मिश्रण भी हुआ है, यह मिश्रण सर्वत्र ही मधुर है, उसमें तीखापन कहीं पर भी नहीं है।

काव्य साधना:—पद्माकर रीतिकाल के अन्तिम भाग के कवि थे। वह ऐसे समय में अवतीर्ण हुए थे जब आचार्यत्व की परम्परा समाप्त हो चली थी। यही कारण है कि उनकी रचनाएँ आचार्यत्व की साधना के उस गुरु भार से मुक्त सी हैं। इतना अवश्य है कि परम्परागत आलंकारिक मोह इन्हें भी घेरे रहा जो कहीं कहीं तो यह अत्यन्त अरुचिकर प्रतीत होने लगा है। इतना अवश्य है कि उनके शृंङ्गार में अश्लीलता नहीं है।

"फूलि रहे, फलि रहे, फवि रहे फैल रहे,
झमि रहे, झलि रहे, झुकि रहे, झूमि रहे'
"बनन में बागन में बगरो बसन्त हैं।
वृन्दावन बागन में वसन्त बरसो परै॥"
"तौं ही लागि चैन जौ लौ चेति है न चन्द मुखी,
चेतेगी कहूँ तो चाँदनी में चुरि जायगी॥"

मतिराम के "रसराज" के समान ही उनका "जनद्विनोद" भी उत्कृष्ट ग्रन्थ है। अभ्यासी तथा रसिक सभी उसकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते हैं। उनकी सुमधुर कल्पना ऐसी स्वाभाविक और हाव-भावपूर्ण है कि उससे समूर्तचित्र सामने उपस्थित हो जाता है। उनकी कल्पना शक्ति इतनी प्रबल एवं प्रभावोत्पादक है कि बिहारी को छोड़ कर अन्य कोई भी कवि उनकी समता नहीं कर सकता है। उसमें भावुकता का संयोग है, जिस सारा काव्य चमत्कृत हो जाता है।

इस प्रकार हम संक्षेप में कह सकते हैं कि "पद्माकर ने रीतिकाल रूपी सुन्दर मधुमास के अन्तिम पुष्प के सदृश हिन्दी साहित्य की वाटिका को सुशोभित किया।" ऐसे ही कविगण साहित्य को चिरंतन बनाते हैं, उनकी कृतियाँ साहित्य की अमूल्य निधि होती हैं और वे साहित्य एवं संस्कृति के इतिहास में सदैव के लिए अमर हो जाते हैं।

———•———

आधुनिक काल

रीतिकाल के उत्तरार्द्ध से ही भारत में अङ्गरेज़ी शासन का प्रारम्भ हो गया। उनकी साम्राज्य लिप्सा उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी। विदेशियों के सम्पर्क से भारत पर पाश्चात्य सभ्यता का रंग चढ़ने लगा। इन विविध परिवर्त्तनों के कारण हमारी काव्य धारा कुछ समय के लिए अवरुद्ध सी हो गयी। शासन को समुचित रूप से चलाने के लिए शासितों की भाषा का सम्पर्क भी नितांत आवश्यक होता है, इसके लिए गद्य अत्यधिक उपयुक्त होती है। हमारी गद्य का विकास इसी युग में हुआ। गद्य के लिए हिन्दी की अनेक उपभाषाओं में से खड़ी बोली ही को अधिक उपयुक्त समझा गया। अतएव सभी काम खड़ीबोली में होने लगे, तथा ब्रजभाषा की प्रबल धारा अवरुद्ध हो गयी। ठीक भी है, गद्य के लिए ब्रजभाषा सर्वथा अनुपयुक्त है भी। इसी से तत्कालीन अनेक कवि ब्रजभाषा छोड़कर खड़ीबोली ही को अपनाने लगे। ब्रजभाषा के रीतिकालीन शृंगार में भी कमी आने लगी। इसी संक्रमणकाल में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र अवतीर्ण हुए। उन्होंने कविता तो ब्रजभाषा में की किन्तु अपनी गद्य रचनाओं में खड़ीबोली ही को अपनाया। उन्होंने उसके रूप में समुचित परिष्कार करके उसे साहित्यिक भाषा बनाने का सफल प्रयास किया और नाटक, निबन्ध समालोचनाएँ आदि लिखकर तत्सम्बन्धी विषयों के आधारभूत सिद्धान्तों का निरूपण करके हिन्दी साहित्य में अपना एक युग स्थापित कर दिया।

इस प्रकार इस युग में हिन्दी काव्य की दो भाषाएँ प्रयुक्त हुईं। ब्रजभाषा और खड़ीबोली। राजा लक्ष्मणसिंह, बद्रीनारायण चौधरी, जगन्नाथदास रत्नाकर, श्रीधर पाठक, देवीप्रसाद पूर्ण, सत्यनारायण कवि-

रत्न, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध,' श्री रामचन्द्र शुक्ल, वियोगी हरि, दुलारे लाल भार्गव की गणना ब्रजभाषा के प्रसिद्ध कवियों में की जाती है। ब्रजभूमि में तो आज कल भी ब्रजभाषा का ही प्रचार है।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के उपरान्त आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भी साहित्योत्थान के लिए तद्वत ही कार्य किया। उन्होंने गद्य साहित्य को उन्नत बनाने के लिए तो समुचित व्यवस्था की ही है, पद्य के संस्करण के लिए उससे भी अधिक प्रयास किया है। उन्होंने निबन्ध, समालोचना आदि के नियमों की विशद व्याख्या करके उदाहरण स्वरूप उत्कृष्ट निबन्ध तथा समालोचनाएँ लिखीं। हिन्दी साहित्य में उनका महत्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने अपनी कविता भी खड़ीबोली ही में की। इन्हीं सब विशेषताओं के कारण वह भी युग-सृष्टा कहे जाते हैं। बाबू मैथिलीशरण गुप्त, पं० लोचनप्रसाद पाण्डे, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', उन्हीं की मण्डली के थे। इसी युग में अयोध्या सिंह उपाध्याय नाथूराम शंकर, लाला भगवानदीन, पं० रामचन्द्र शुक्ल, रूपनारायण पाण्डे हुए और आधुनिक नई धारा में रामनरेश त्रिपाठी, जयशंकरप्रसाद, गोपालशरण-सिंह, मालन लाल चतुर्वेदी, सियारामशरण गुप्त, अनूप शर्मा, सुमित्रानन्दन पन्त, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', गुरुभक्त सिंह, उदय शंकर भट्ट, हरिवंशराय 'बच्चन' रामकुमार वर्मा, श्याम नारायण पाण्डे, रामधारीसिंह 'दिनकर', सुभद्राकुमारी चौहान, महादेवी वर्मा आदि विशेष प्रसिद्ध हैं।

इस युग में हमारी काव्यशैली में भी परिवर्तन हुआ। रीतिकाल में कवित्त, सवैयों की भरमार रही थी, किन्तु वे इस युग के और विशेषकर खड़ीबोली तथा राष्ट्रीय भावना के लिए विशेष उपयुक्त नहीं समझे गये यही कारण है कि आधुनिक कवियों ने इस प्रकार के प्राचीन छंद-बन्ध को न अपनाकर नवीन छन्दों की रचना की और उन्हीं के द्वारा अपनी भावाभिव्यक्ति की। हमारे प्रसाद, पंत, निराला, वियोगी तो और भी आगे बढ़ गए। उन्होंने अङ्गरेजी तथा बंगाली के बहुत से छन्दों में

अपनी उत्कृष्ट रचनाएँ कीं, उनमें न तो अलंकारों की अतिशयता है और न बाह्याडम्बर की विशेषता ही। उनकी भाषा सीधी-सादी तथा सरस है किन्तु अपने अभीष्ट भावों को स्पष्ट करने में पूर्ण समर्थ है। इस युग की कविता में एक विशेषता और भी है। वह राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत है। सर्वप्रथम भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने अपने नाटकों में राष्ट्रीय भावनाएं दिखलाई, तदुपरान्त वियोगी हरि ने अपनी 'वीर सतसई' में वीर रस का बड़ा ही सुन्दर परिपाक किया है। इस युग में कवियों ने काव्य के अन्य रसों का भी वर्णन किया, किंतु उन्हें करुण और हास्य रस में ही विशेष सफलता मिली है। समय के परिवर्त्तन से भाषा का भी विकास हुआ, उसमें मधुरता आ गयी, वह गीतिकाव्य के लिए भी उपयुक्त हो गयी।

इस युग के प्रारम्भ एवं मध्यभाग में छायावाद, रहस्यवाद आदि अनेक वाद भी प्रचलित हो गये थे, किन्तु समाज में समाहृत न होने के कारण ही वे बीच में ही समाप्त हो गये। इस युग के रहस्यवादी और छायावादी कवियों में प्रसाद, पन्त, महादेवी वर्मा विशेष उल्लेखनीय है। आजकल समय एवं समाज प्रगति के पथ पर है, अतएव साहित्य भी इसी धारा में प्रवाहित होने लगा है। उसमें स्वदेश प्रेम की भावना है। उस में सभी प्रकार के काव्य की रचना हुई है। प्रियप्रवास, साकेत, कामायनी, नूरजहाँ, सिद्धार्थ इस युग के प्रमुख महाकव्य हैं, उद्धव-शतक, आँसू पंचवटी, सिद्धराज, नहुष, अभिमन्यु-बध आदि अनेक उत्कृष्ट खण्डकाव्य भी हैं।

इस युग में गद्य साहित्य का भी समुचित विकास हुआ है और हो रहा है। उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध आदि सभी प्रकार के गद्य-ग्रंथ हमारे सामने हैं। इस युग के प्रमुख उपन्यासकारों में उपन्यास-सम्राट मुंशी प्रेमचंद, देवकीनन्दन खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी, विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', वृन्दावनलाल वर्मा, जैनेन्द्रकुमार आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। आजकल तो यह उपन्यास साहित्य बहुत ही आगे बढ़ गया है। गोदान, कंकाल, कर्मभूमि, निर्मला, निरुपमा, गोद, मृगनयनी, नारी,

सितारों के खेल, भिखारिणी आदि उपन्यास विशेष प्रसिद्ध हैं।

उपन्यास साहित्य के साथ कहानी साहित्य का भी विकास हुआ। आजकज सभी प्रकार की कहानियाँ लिखी जा रही हैं। विनोदशंकर व्यास, प्रेमचन्द चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, वेचन शर्मा 'उग्र', जैनेन्द्रकुमार, चतुरसेन शास्त्री, सुदर्शन, आदि प्रसिद्ध कहानीकार हैं।

इस युग का नाट्य साहित्य भी विशेष उल्लेखनीय है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र तो इस परम्परा के प्रवर्तक थे ही, उनके उपरान्त बाबू जयशंकरप्रसाद ने स्कन्दगुप्त, अजातशत्रु, चन्द्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी, विशाख, कामना, जनमेजय का नागयज्ञ आदि विशेष महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक नाटक लिखकर हिंदी साहित्य में एक विशेष युग स्थापित कर दिया है। उनके पश्चात् हरिकृष्ण प्रेमी, सेठ गोविन्ददास, लक्ष्मीनारायण मिश्र, जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द, बेचन शर्मा 'उग्र', माखनलाल चतुर्वेदी, सुदर्शन, 'कौशिक', सुमित्रानन्द पंत, सत्येन्द्र, चतुरसेन शास्त्री, रामनरेश त्रिपाठी, उदयशंकर भट्ट आदि विशेष प्रसिद्ध हैं। इसी युग में एकाङ्की नाटक भी लिखे जो साहित्य का एक नवीन उपहार है। रामकुमार वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क, भुवनेश्वर मिश्र, आदि प्रसिद्ध एकाङ्की नाटक लेखक हैं। इन्होंने एकाङ्की नाटक लिखने के साथ ही साथ उनके आधारभूत सिद्धाँतों का भी विवेचन करके इस दिशा के अन्य नवीन लेखकों का भी सम्यग् पथ-प्रदर्शन किया है। महावीर प्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दरदास, हजारीप्रसाद द्विवेदी, गुलाबराय, पद्मसिंह शर्मा आदि प्रसिद्ध निबन्ध लेखक हैं। इन्होंने साहित्यिक समालोचना की भी नीव डाली। इसी युग में पत्र-साहित्य का भी समुचित विकास हुआ। हम देखते हैं कि अनेक प्रकार की पत्र पत्रिकाएं धड़ाधड़ निकल रही हैं और हमारे साहित्य की अभिवृद्धि कर रही हैं।

इस प्रकार हम संक्षेप में कह सकते हैं, कि आनुनिक युग में हमारे साहित्य का सर्वतोमुखी विकास हुआ। साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों के आधार पर विभिन्न धाराएं प्रवाहित रही हैं जो अपने तीरवर्ती हो

अयोध्यासिंह उपाध्याय

जीवन-परिचय—कवि-सम्राट अयोध्यासिंह उपाध्याय का जन्म बैसाख कृष्णा ३ संवत् १९२२ विक्रमी को निजामाबाद जिला आजमगढ़ में हुआ था। उनके पूर्वज बदाऊँ निवासी सनाढ्य ब्राह्मण थे। उनकेपिता का नाम भोलानाथ था। वैदिक नियमानुसार उपाध्याय जी की शिक्षा ५ वर्ष की आयु से ही प्रारम्भ हो गई। उस समय उर्दू फारसी का अधिक प्रचार था। अतएव हरिऔध जी को सर्वप्रथम फारसी ही पढ़ाई गई। संवत् १९३६ विक्रमी में वह वर्नाक्युलर मिडिल परीक्षा उत्तीर्ण करके काशी के क्वींस कालेज में अङ्गरेजी पढ़ने के लिए प्रविष्ट हुए, किन्तु स्वास्थ्य के बिगड़ जाने के कारण उन्हें कालेज छोड़ना पड़ा। इसके उपरान्त घर पर ही उर्दू, फारसी और संस्कृत पढ़ी। संवत् १९४१ विक्रमी में वह अपने यहाँ के ही मिडिल स्कूल में अध्यापक हो गये। इसके उपरान्त सं० १९४६ में कानूनगो के पद पर नियुक्त हो गये और २० वर्ष तक आजमगढ़ में सदर कानूनगो के पद पर सफलता-पूर्वक कार्य करते रहे। अन्त में सन् १९२३ ई० में उन्होंने राज्य की सेवा-वृत्ति से अवकाश ग्रहण किया। इसके उपरांत वह काशी हिंदू विश्वविद्यालय में साहित्य के अवैतनिक अध्यापक हो गये। इस अध्यापन कार्य को भी उन्होंने बड़ी सफलता के साथ किया। वहां से अवकाश ग्रहण करने के उपरान्त वे आजमगढ़ आगये और स्थायी रूप से वहीं रहने लगे। मार्च सन् १९४७ ई० में उनका स्वर्गवास हो गया।

हरिऔध का जीवन हमारे लिए एक आदर्श जीवन है। वह प्राचीन गौरव और आर्य संस्कृति के पूर्ण समर्थक थे। उनकी यह मनोवृत्ति उनकी रचनाओं में स्पष्ट झलकती है। उनकी काव्याभिरुचि के विषय

में इतना कह देना असंगत न होगा कि उनके निवास स्थान के बाबा सुमेरसिंह के सम्पर्क में आकर वह काव्य के क्षेत्र में आये थे। वह उन्हीं के सम्प्रदाय के अनुयायी थे। इसीसे सनाढ्य ब्राह्मण होते हुए भी उनके नाम के आगे 'सिंह' लगा हुआ है, तथा "अयोध्या" और "सिंह" इन दोनों शब्दों का विपर्यय कर उनके पर्याय बाचक शब्दों से बनाया हुआ "हरिऔध" उपनाम रक्खा जो सर्वथा सार्थक है। वह अच्छे वक्ता और आलोचक थे ! वह हिंदी साहित्य सम्मेलन के सभापति भी रह चुके थे। उन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की इनमें 'प्रियप्रवास' विशेष प्रसिद्ध है। यह मंगलाप्रसाद पारितोषिक से पुरष्कृत भी हो चुका है।

रचनाएँ —हरिऔध जी के कुछ ग्रन्थ मौलिक हैं, तथा कुछ अनूदित।

अनूदित — वेनिस का बाँका, रिपवान विंकिल, नीति-निबंध, उपदेश कुसुम, विनोद वाटिका।

मौलिक महाकाव्य—प्रियप्रवास, वैदेही वनवास,।

स्फुटकाव्य —चोखे चौपदे, चुभते चौपदे, बोलचाल, रस कलस, पद्य-प्रसून, कल्पलता, पारिजात, ऋतुमुकुर, काव्योपवन, प्रेमप्रपंच, आदि।

उपन्यास —ठेठ हिन्दी का ठाठ, अधखिला फूल।

आलोचनात्मक—हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, कबीर वचनावली, आदि।

भाषा शैली—हरिऔध हिंदी साहित्य के उच्चकोटि के साहित्यकार थे। उन्होंने गद्य-पद्य दोनों में ही अपनी उत्कृष्ट रचनाएँ की हैं। वह उर्दू-हिंदी, संस्कृत फारसी के अच्छे विद्वान थे, इसीसे उनकी भाषा पर इन सबका समुचित प्रभाव पड़ा है। उन्होंने साधारण से साधारण बोलचाल की भाषा में भी लिखा है, और संकृत तत्सम् बहुला उत्कृष्ट साहित्यिक भाषा में भी। इस प्रकार उनकी भाषा चार वर्गों में रक्खी

जा सकती है:—१ ब्रजभाषा, २ सरल साहित्यिक हिन्दी, ३ उर्दू शैली से प्रभावित, ४ तत्सम् प्रधान हिन्दी।

चुभते चौपदे, चोखे चौपदे, पुष्पोपहार, काव्योपवन साधारण बोल-चाल की भाषा में ही लिखे गये। इनमें उर्दू का भी प्रभाव है।

"हो भरा सब कठोरपन जिसमें। संग कहना उसे न बेजा है।
है ठसक, गाँठ, काठपन जिसमें। वह बड़ा ही कठिन कलेजा है॥"

"सारे लोक लोकपाल सहित विलोप ह्वै है,
कुल कलानिधि काल भाल में समावेंगे॥
तारकता तजि तजि तारक तिरोहित ह्वै,
प्रलय-पयोधि में बलूले पद पावेंगे॥"

"है यही कामना मेरी,
सेवा हो सफल तुम्हारी।
ललकित आंखें अवलोकें,
वह मूर्त्ति लोक हितकारी॥"

"सुखद-पावस के प्रति सर्व की,
प्रगट सी करती अति-प्रीति थी।
वसुमती अनुराग स्वरूपिणी;
बिलसती बहु बीर बधूटियाँ॥"

उनके रस कलस की भाषा ब्रज-भाषा तो है, किंतु उसमें ब्रज का शुद्ध रूप नहीं है, वह खड़ी बोली से प्रभावित है। प्रियप्रवास की भाषा संस्कृत पदावली से युक्त हैं।

"रूपोद्यान प्रफुल्ल प्राय कलिका राकेन्दु बिबानना।
तन्वंगी कल हासिनी, सुरसिका क्रीड़ा कला पुत्तली॥"

इस प्रकार की पंक्तियों तथा संस्कृत-श्लोकों की पंक्तियों में कोई भी अन्तर नहीं है।

"नव प्रभा परमोज्ज्वल लीक सी,
गति-मती कुटिला-फणिनी समा।

दमकती-दुरती घन-अङ्क थी,
विपुल केलि-कला खनि दामिनी ॥"

उनके चुभते चौपदे, चोखे चौपदों में तो मुहावरों की भरमार है।

साँस पाते जब बुराई से नहीं,
लाभ क्या तब साँस की साँसत किये।
जब दबाये से नहीं मन ही दबा,
नाक को हैं तब दबाते किस लिये ॥"

"जब हमारी ऐंठ ही जाती रही,
तब भला हम मूंछ क्या है ऐंठते।"

"मन्दिरों, मसजिदों कि गिरजों में,
खोजने हम कहाँ कहाँ जायें।
वह तो फैले हुए जहाँ में हैं,
हम कहाँ तक निगाह फैलायें ॥

इस प्रकार उन्होंने मुहावरों और ठेठ बोली पर अपना अधिकार प्रदर्शित किया है। उनके कुछ चौपदे अत्यन्त साधारण कोटि के हैं। कुछ अत्यन्त उत्कृष्ट भी हैं।

'पद्य प्रसून' में उनकी बोलचाल की और साहित्यिक प्रौढ़, दोनों ही प्रकार की भाषाओं की कविताएँ संगृहीत हैं। उनकी ये कविताएँ पुराने ढर्रे की होते हुए भी लोक-प्रिय हैं।

कौड़ियों को ही पकड़ते पाँत से। चाहिए ऐसा न जाना बन तुम्हें।
छोड़ देगा कौड़ियों का ही बना। यह तुम्हारा कौड़ियालापन तुम्हें।

हरिऔध की लेखन शैली अपनी निराली है। उन्होंने अपनी कविता में विभिन्न छन्दों का प्रयोग किया है। कहीं पर तो उनमें उर्दू शैली के छन्द दिखलाई पड़ते हैं, कहीं ग्रामीण छन्द हैं, कहीं रीतिकालीन और कहीं संस्कृत साहित्य के छंद हैं। इनमें अधिकाँश छन्द अतुकान्त हैं। हिंदी साहित्य में अतुकान्त कविता करने वाले सर्व प्रथम कवि हरिऔध ही हुए हैं। इसमें वह पूर्ण-रूपेण सफल हुए हैं।

"विमुग्धकारी मधुमास-मंजु था,
वसुंधरा थी कमनीयता मयी।
विचित्रता–साथ विराजती रही,
बसंत बासंतिकता बनान्त में॥"
"दृगों, उरों को, दहती अतीव थी,
शिखाग्नि तुल्या तरु-पुंज कोपलें।
अनार-शाखा कचनार डार थी,
प्रतप्त अङ्गार–अपार-पूरिता॥"

उनकी भाषा अत्यन्त सरस और माधुर्य रस से परिपूर्ण है, अलंकारों के अपूर्व संयोग से उसका सौंदर्य और भी अधिक बढ़ गया है। वह सरल से सरल और गम्भीर से गम्भीर भावों तक की अभिव्यक्ति करने में पूर्ण समर्थ हैं। इसीसे कहा जाता है कि "हरिऔध" जी का भाषा के विविध रूपों पर पूर्ण अधिकार था। सरल और संस्कृत-गर्भित दोनों प्रकार की खड़ी बोली के साथ ही मंजी हुई ब्रजभाषा में समयानुकूल भावों की सुन्दर और लोक-कल्याणकारिणी अभिव्यंजना करने के कारण हरिऔध जी हमारे आजकल के सर्वश्रेष्ठ कवियों में हैं।

साहित्य साधना—महाकवि हरिऔध आधुनिककाल के सर्वोत्कृष्ट कवि हैं। उनका जन्म ब्रजभाषा के युग में हुआ था। इसीसे उन्होंने सर्वप्रथम ब्रजभाषा में ही काव्य रचना की। उन्होंने संस्कृत अतुकांत वृत्तों के आधार पर हिंदी खड़ी बोली में भी अतुकांत कविता की। आज तक हिंदी के किसी भी कवि को अतुकांत कविता में उतनी सफलता नहीं मिली। उन्होंने कुछ गद्य ग्रन्थ भी लिखकर गद्य-साहित्य का संवर्द्धन किया। यही नहीं उन्होंने हिंदी साहित्य और भाषा का क्रमिक विकास के आधार पर आलोचनात्मक इतिहास भी लिखा जो हिंदी साहित्य में अद्वितीय ग्रन्थ है। उन्होंने उपन्यास लेखन में भी बड़ा कौशल दिखाया है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी।

वह सामाजिक भावनाओं से अनभिज्ञ नहीं थे। हम देखते हैं कि उनके सभी पात्रों में न्यूनाधिक सामाजिक भावना विद्यमान है।

"वे जी से हैं जगत जन के सर्वथा श्रेय कामी।
प्राणों से है अधिक उनको विश्व का प्रेम प्यारा ॥"
"वे छाया थीं सुजन शिरकी, शासिका थीं, खलों की।
कंगालों की परम निधि थीं, औषधि पीड़ितों की ॥
दीनों की थीं भगिनी, जननी थीं अनाथाश्रितों की।
आराध्या थीं अवनि-ब्रज की, प्रेमिका, विश्व की थीं ॥"

उनके प्रियप्रवास का संक्षेप समाज सेवा, स्वार्थत्याग, विश्व प्रेम, परोपकार आदि का शुभ सन्देश है। इसी मङ्गलमयी कल्याणवृत्ति की पृष्ठ भूमि पर राधा और कृष्ण के चरित्र दिखलाये गये हैं। वे लोक सेवक, परोपकारी और कर्तव्यपरायण हैं। इसीसे हमारे आदर्श पथ-प्रदर्शक भी हैं।

"विपत्ति से रक्षण सर्वभूत का, सहाय होना असहाय जीव का।
उबारना संकट से स्वजाति का, मनुष्य का सर्व प्रधान कृष्ण है।"

कितनी सुन्दर भावना है। इसी के आधार पर किसी विशेष जनपद का ही नहीं, समस्त विश्व का भी कल्याण हो सकता है, उसमें विश्व बन्धुत्व की ऐसी अविरल धारा प्रवाहित हो सकती है जिसमें स्नान करके हमारे मानस के सभी कल्मष धुल सकते है और यह वसुधा भी सुधामय हो सकती है। धन्य है ऐसे चरित्र निर्माण-कर्ता को।

सारांश यह है कि पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने हिन्दी के सर्वतोमुखी विकास के लिए स्तुत्य प्रयास किया। उनकी रचनाएँ सर्वगुण सम्पन्न हैं। भाव-भाषा और कला का उनमें समुचित विकास हुआ है। यही कारण है कि उनको यह साहित्य-सेवा किसी भी दशा में विस्मृति के गर्भ में नही जा सकती है। हिंदी की जिस उर्वराभूमि में भारतेंदु जी ने बीजारोपण किया था, और द्विवेदी जी ने अपनी अविरल वारिधारा से जिसका सिंचन किया था, वही हरिऔध के युग में पल्लवित हुआ। इन्होंने उस साहित्यपादप का संरक्षण किया और उसको विकसित एवं समृद्ध बनाने का सफल प्रयास किया है।

———

रामनरेश त्रिपाठी

जीवन-परिचय—पंडित रामनरेश त्रिपाठी का जन्म सम्वत् १९४६ विक्रमी में जौनपुर के कोइरीपुर नामक ग्राम में हुआ था। पण्डित रामदत्त त्रिपाठी उनके पिता थे। वह बड़े ही भगवद्भक्त तथा गीता और रामचरितमानस के प्रेमी थे। रामनरेश भी इससे बहुत ही अधिक प्रभावित हुए। त्रिपाठी जी प्रारम्भ से ही प्रतिभा सम्पन्न थे। प्रायमरी-शिक्षा समाप्त करने के उपरान्त वह अङ्गरेजी पढ़ने के लिए जौनपुर गये, किंतु उनके पिता अङ्गरेजी शिक्षा के विरुद्ध थे, इसीसे उन्हें अङ्गरेजी पढ़ना छोड़ना पड़ा। थोड़े ही दिनों के पश्चात् वह कलकत्ता चले गये, किन्तु वहाँ जलवायु के प्रतिकूल होने के कारण वह बीमार पड़ गये। दशा अत्यधिक असाध्य हो जाने पर वह मारवाड़ चले आये। यहाँ पर उनका इलाज हुआ। ईश्वर की कृपा से वह शीघ्र ही स्वस्थ हो गये। स्वास्थ्य-लाभ करने के उपरान्त उन्होंने वहीं एक पुस्तकालय भी खोल लिया और इस प्रकार साहित्य का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। इस समय तक उन्होंने संस्कृत, उर्दू, बङ्गला, गुजराती आदि का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया।

पिताजी की मृत्यु के उपरान्त वह प्रयाग चले आये और वहीं रहते हुए राष्ट्रीय और साहित्यिक कार्यों में पर्याप्त योग देने लगे। उस समय राष्ट्रीय आंदोलन प्रारम्भ हो रहा था। अतएव वह उसकी ओर विशेष झुक गये। इसके फलस्वरूप उन्हें डेढ़ वर्ष के लिए जेल-यात्रा भी करनी पड़ी। इसके उपरान्त वह साहित्य की सेवा में लग गये और अन्त तक इसी पुनीत कार्य में लगे रहे।

रचनाएँ—त्रिपाठी जी हिन्दी के प्रसिद्ध कवि और लेखक हैं।

उन्होंने कई मौलिक ग्रन्थ लिखे, कुछ का अनुवाद किया तथा कुछ ग्रन्थों का सम्पादन भी किया।

कविता-कौमुदी उनका उत्कृष्ट सम्पादित ग्रन्थ है, यह सात भागों में सम्पन्न हुआ है। हिन्दुस्तानी कोष, भूषण ग्रन्थावली, सुकवि कौमुदी, मारवाड़ के मनोहर गीत, सुदामा चरित, पार्वती मंगल, घाघ और भंडारी, शिवा बावनी आदि उनके अन्य सम्पादित ग्रन्थ हैं।

रामचरितमानस की टीका, तुलसीदास और उनकी कविता दो भाग, हिन्दी का संक्षिप्त इतिहास आदि उनके प्रसिद्ध समालोचना-ग्रन्थ हैं। मिलन, पथिक, पेखन, स्वप्न, मानसी, तरकस, प्रेमलोक, जयंत, बाल-कथा कहानी १७ भाग, गुपचुप कहानी २ भाग, मोहनमाला, बानर-संगीत, महात्मा बुद्ध, चन्द्रगुप्त, मोतीचूर के लड्डू, अशोक, आल्हा उनके दूसरे ग्रन्थ है।

इनको देखकर हम कह सकते हैं कि त्रिपाठीजी ने आबाल-वृद्ध सभी के लिए उपयुक्त सामग्री सजायी जो सभी को रुचिकर भी हुई।

भाषा-शैली—त्रिपाठीजी की भाषा शुद्ध खड़ी बोली है। उनका साहित्य साधारण जन-समाज का साहित्य है। इसी से वह अत्यन्त सरल, सुबोध एवं मनमोहक है। उनकी पदावली अत्यन्त सरल होते हुए भी भाव-मय तथा चित्ताकर्षक है।

"कठिनाइयों-दुखों का इतिहास ही सुयश है।
मुझको समर्थ कर तू बस कष्ट के सहन में॥
दुख में न हार मानूँ, सुख में तुझे न भूलूँ।
ऐसा प्रभाव भर दे मेरे अधीर मन में॥"

"देश-प्रेम वह पुण्य क्षेत्र है,
अमल असीम त्याग से विलसित।
आत्मा के विकास से जिसमें,
मनुष्यता होती है विकसित॥"

उर्दू की पदावली से युक्त एक उदाहरण और देख लीजिए।

"मेरे लिए खड़ा था दुखियों के द्वार पर तू।
मैं बाट जोहता था तेरी किसी चमन मे ॥
बनकर किसी के आँसू मेरे लिए बहा तू।
मैं देखता तुझे था, माशूक के सदन में ॥"

इन तीनों प्रकार के उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि त्रिपाठी जी ने अपनी भाषा जन-साधारण की भाषा बनाने का प्रयत्न किया। उसमें यथास्थान उर्दू के शब्दों का भी प्रयोग हुआ है, किन्तु इससे उस में कहीं पर भी नीरसता नहीं आने पाई है।

उनकी वाक्य-रचना पूर्णरूप से व्याकरण सम्मत है। उसमें कहीं पर भी शिथिलता नहीं है। राष्ट्रीय-भावनाओं से युक्त पदावली में एक प्रकार का ओज है, शक्ति है और स्फूर्ति है, जो सहसा ही पाठक-वृन्द को उसी भाव-लहरी में निमग्न कर लेती है—

"सच्चा प्रेम वही है, जिसकी—
तृप्ति आत्मबलि पर हो निर्भर।
त्याग बिना निष्प्राण प्रेम है—
करो प्रेम पर प्राण निछावर ॥"
"जब तक साथ एक भी दम हो
हो अवशिष्ट एक भी धड़कन।
रखो आत्म-गौरव से ऊँची—
पलकें, ऊँचा शिर, ऊँचा मन ॥
एक बूँद भी रक्त शेष हो,
जब तक तन में है शत्रुञ्जय।
दीन वचन मुख से न उचारो,
मानो नहीं मृत्यु का भी भय।"

क्योंकि—

"मृत्यु एक सरिता है जिसमें—
श्रम से कातर जीव नहाकर।

फिर नूतन तन धारण करता हैं,
काया रूपी वस्त्र बहाकर ।।"

कितनी सुन्दर एवं उत्कृष्ट भावना है, जो अत्यन्त सरल पदावली में व्यक्त की गंई है । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उनकी रचनाएँ युग और राष्ट्र की आकाँक्षाओं से परिपूर्ण हैं। उनमें अनुभूति है और कल्पना है। उनमें भाव-व्यंजकता भी पूर्ण मात्रा में है। इसीसे वह आधुनिक खड़ीबोली के प्रतिष्ठित कवियों में गिने जाते हैं।

कविता कहानी दोनों पर ही सम्मेलन द्वारा सेकसरिया पारितोषिक प्रदान किया जा चुका हैं। उनकी रचनाएँ इस प्रकार हैं :—

मुकुल, बिखरे मोती, उन्मादिनी, त्रिधारा, सभा के खेल और सीधे चित्र। मुकुल इनकी ३६ कविताओं का संग्रह है। जिस पर उन्हें सेक्सरिया पुरस्कार मिला था। 'सभा का खेल' उनकी बालोपयोगी कविता का संग्रह है। सीधेसाधे चित्र शीर्षक पुस्तक में उन की कहानियों का संग्रह है।

भाषा—सुभद्रा जी की भाषा खड़ी बोली है। उसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग बड़ी सफलता पूर्वक हुआ है। इनकी भाषा इतनी सरल और सीधी है कि पाठक को कविता समझने के लिए किसी शब्द का अर्थ खोजना नहीं पड़ता। उनकी भाषा उनके भावों के अनुरूप होती है। भाषा में ओज, प्रसाद और माधुर्य पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। विदेशी शब्दों का प्रयोग बड़ी निपुणता से किया है। हिन्दी, उर्दू दोनों भाषाओं के प्रचलित शब्दों का चयन करके अपनी भाषा में प्रयोग किया है जिससे भाषा की सुन्दरता और भी बढ़ गई है। सुभद्रा जी की भाषा में एक और विशेषता यह है कि जिस प्रकार उन्होंने आभूषणों को ठुकराया उसी प्रकार भाषा को भी अलंकारों की छूत नहीं लगने दी। बड़ी सरसता और सरलता पूर्ण इनकी भाषा स्वाभाविक रूप में निरन्तर आगे बढ़ती जाती है।

"बढ़ जाता है मान वीर का,
रण में बलि होने से।
मूल्यवती होती सोने की,
भस्म यथा सोने से॥
रानी से भी अधिक हमें अब,
यह समाधि है प्यारी।
यहाँ निहित है स्वतन्त्रता की.
आशा की चिनगारी॥

"कृष्ण चन्द्र की क्रीड़ाओं को, अपने आँगन में देखो।
कौशल्या के मातृ मोद को, अपने ही मन में लेखो॥"

कविता की विशेषता · सुभद्रा जी आधुनिक महिला कवियित्रियों में अपना एक प्रमुख स्थान रखती हैं। श्रीमती महादेवी वर्मा के बाद आप ही का दूसरा स्थान है। आपकी कविता से देवियों ही को नहीं वरन् नवयुवकों को भी पर्याप्त प्रेरणा मिली है। आपकी कविताओं को तीन श्रेणियों में रखा जा सकता है (१) देश भक्ति पूर्ण कवितायें (२) मातृत्व भावना पूर्ण कवितायें (३) प्रणय सम्बन्धी कवितायें। देश भक्ति पूर्ण कविताओं में 'झाँसी की रानी' उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना हैं। उनका एक एक शब्द नवीन स्फूर्ति और उत्साह देने वाला है। वीरोचित नारी-जीवन का जितना सजीव चित्र सम्भव हो सकता है, इस पद्य में चित्रित कर दिया गया है।

"वीरों का कैसा हो बसन्त" और "जलियाँ वाले बाग में बसंत" भी आपकी ऐसी ही ओज-पूर्ण रचनाएँ हैं। "वीरों का कैसा हो बसंत" की पंक्तियाँ देखिये—

कहदे अतीत् अब मौन त्याग,
लंके! तुझ में क्यों लगी आग?
ऐ कुरुक्षेत्र! अब जाग, जाग,
बतला अपने अनुभव अनन्त,
वीरों का कैसा हो बसन्त?

राष्ट्रीय कविताओं के अतिरिक्त वात्सल्य रस की कवितायें भी बड़ी भावुक और सुन्दर हुई हैं।

"मैं बचपन को बुला रही थी, बोल उठी बिटिया मेरी।
नंदन बन सी फूल उठी यह, छोटी सी कुटिया मेरी॥"

"बालिका का परिचय" शीर्षक कविता में उनकी भावुकता बहुत आगे बढ़ जाती है :—

"मेरा मन्दिर मेरी मसजिद काबा काशी यह मेरी ।
पूजा पाठ, ध्यान जप तप है घट घट बासी यह मेरी ॥"

× × × × ×

परिचय पूछ रहे हो मुझसे कैसे परिचय दूँ इसका ?
वही जान सकता है इसको, माता का दिल है जिसका।

माता को अपने बालक पर कितना अभिमान होता है ? उसका रुदन भी उसके लिए अभिमान का कारण होता है ।

"तुमको सुन कर चिढ़ आती है, मुझको होता है अभिमान ।
जैसे भक्तों की पुकार सुन, गर्वित होते हैं भगवान ॥"

प्रणय सम्बन्धी कविताओं में दाम्पत्य-भाव फूटा पड़ता है । 'चलते समय' शीर्षक कविता की कोमलता का दर्शन कीजिये ।

"मैं सदा रूठती ही आई, प्रिय ! तुम्हें न मैंने पहिचाना ।
वह मान बाण सा चुभता है, अब देख तुम्हारा यह जाना ॥"

सुभद्रा जी के भाव बड़े ही सीधे और सरल होते हैं । अन्य कवियों की तरह वह ऊँची उड़ाने नहीं भरतीं वरन् इस वस्तु जगत के अन्दर ही उनकी दृष्टि इतनी पैनी हो जाती है कि वह अपने भाव और विचारों से पाठक को आत्मविभोर कर देती हैं । उनके भावों में एक प्रकार की मादकता है और है अपूर्व आकर्षण ।

———

रामकुमार वर्मा

जीवन-परिचय—रामकुमार वर्मा का जन्म सम्वत् १९६२ में हुआ था। इनके पिता श्री लक्ष्मीप्रसाद जी डिप्टी कलेक्टर थे। वर्मा जी की प्रारम्भिक शिक्षा कई स्थानों पर हुई। रामटेक और नागपुर के मराठी स्कूल में मराठी की शिक्षा पाई। हिन्दी की शिक्षा उन्हें उनकी माता श्रीमती राजरानी ने दी थी।

जिस समय यह एन्ट्रेन्स में पढ़ रहे थे उसी समय राष्ट्रीय आन्दोलन छिड़ा फलतः वर्मा जी ने स्कूल छोड़ दिया और 'देश सेवा' पर एक कविता लिखी जिस पर आपको ५१) का खन्ना-पुरस्कार मिला, इससे इनका उत्साह और बढ़ा। १९२३ में इन्होंने पुनः स्कूल में पढ़ना प्रारम्भ कर दिया और एन्ट्रेन्स परीक्षा पास की। सन् १९२७ में बी० ए० परीक्षा पास की और सन् १९२९ में एम० ए० परीक्षा हिन्दी में पास की और उसी समय प्रयाग विश्व-विद्यालय में हिन्दी के लेक्चरार की आवश्यकता हुई। अतः वह उसी पद पर नियुक्त हो गये। अधिक काल तक कार्य करने के पश्चात् यह जबलपुर चले गये। इस समय वह मध्य-प्रान्त के शिक्षा-विभाग के डिप्टी डायरेक्टर हैं। नागपुर विश्व-विद्यालय ने इनकी साहित्य सेवा के उपलक्ष में इन्हें पी० एच डी० की उपाधि दी है।

रचनायें—इन्होंने कई पुस्तकें लिखी हैं जो विषय के अनुसार कई प्रकार की हैं। उनकी रचनाएँ इस प्रकार हैं :—

कविता—कुल ललना, चितवन, अंजलि, रूपराशि, चित्ररेखा, चंद्र-किरण, बीर महीर, चित्तौड़ की चिता, अभिशाप, निशीथ।

नाटक—पृथ्वीराज की आँखें, रेशमीटाई, शिवाजी आदि।

आलोचना—साहित्य समालोचना, कबीर का रहस्यवाद, हिन्दी साहित्य का अलोचनात्मक इतिहास।

गद्यगीत—हिमहास।

संग्रह—हिन्दी गीत काव्य, कबीर पदावली, जौहर, आधुनिक हिंदी काव्य, संत कबीर।

निवन्ध संग्रह—विचार दर्शन।

चित्ररेखा काव्य पर इन्हें २०००) रु० का देव पुरस्कार मिल चुका है।

भाषा और शैली—वर्मा जी की भाषा शुद्ध साहित्यिक खड़ी बोली है। यद्यपि संस्कृत के तत्सम शब्दों का भी प्रयोग हुआ है किन्तु भाषा में क्लिष्टता नहीं आने पाई। आपकी भाषा बड़ी सरल और कोमल होती है। समझने में कहीं भी कठिनाई नहीं होती, सरलतापूर्वक समझ में आती चली जाती है। भाषा की कोमलता पाठकों को मोहित किये बिना नहीं रहती।

वर्मा जी की शैली प्रवाह पूर्ण है। गीतात्मक तथा इतिवृत्तात्मक दोनों हीं शैलियों का प्रयोग किया है। नाटकों में आपकी शैली भावात्मक हो गई है। इन शैलियों के प्रयोग में इन्हीं के अनुरूप भाषा का स्वयं निर्माण किया है। अलंकार स्वाभाविक रूप में कविता में आते चले जाते हैं। उनकी भाषा गतिमय है जिसके द्वारा भावों को युक्तियुक्त बनाने का प्रयत्न लक्षित होता है। वर्मा जी की भाषा सरस, मधुर,भावुक और ओजपूर्ण हैं, वर्णनात्मक और मुक्तक दोनों शैलियों में आपने रचना की है।

विशेषता—वर्मा जी नवीन धारा के प्रमुख कवि हैं। उनकी कवितायें बड़े आदर के साथ पढ़ी जाती हैं। उनकी कविताओं में कल्पना और अनुभूति का सुन्दर समन्वय है। वर्मा जी अनुभूति प्रधान कवि हैं। इनकी रचनायें प्रायः रहस्यमयी होती हैं। उन्होंने कबीर साहित्य का बहुत गम्भीर अध्ययन किया है। इसके अतिरिक्त वह पाश्चात्य

रहस्यवाद से भी प्रभावित है। अतः दोनों ही का स्पष्ट प्रभाव हमें इनकी रहस्यमयी कविताओं में मिलता है।

वर्मा जी के गीत भावपूर्ण, संक्षिप्त और संगीतमय होते हैं। इनके गीतों को पढ़ते ही पाठक तन्मय हो जाता है। अनुभूति प्रधान गीतों में भी कल्पना का पुट रहता है पर बहुत कम। इनकी कवितायें शृङ्गार रस की भी हैं किन्तु करुण रस की अधिक हैं।

"धूल हाय ! बनने ही को खिलता है फूल अनूप,
वह विकास है मुरझा जाने ही का पहला रूप।"

\+ + + +

"क्यों लिखते हो खींच खींच,
विद्युत की उज्ज्वल रेखा,
मैंने तो नभ को केवल।
पृथ्वी पर रोते देखा॥
बादल के तिरछे तन स्थिर,
मैंने कभी न पाया,
प्रातः में भी दौड़ गयी,
संध्या की काली छाया॥"

इस प्रकार हम देखते हैं कि उनकी कविता में एक प्रकार की निराशा तो है, किन्तु उसमें अनीश्वरवादिता नहीं है।

"रजनी मलीन है, सजे किन्तु,
आशाओं के सुन्दर प्रदीप,
विस्तृत सागर के अश्रु पूर्ण।
उर में संचित है एक दीप॥"

उनमें आधुनिक कवियों की रहस्यवादी-भावना भी है। उनके रहस्यवाद में तादात्म्य सम्बन्ध हो जाने पर भी आत्मा को अपनी सत्ता का ज्ञान रहता है। इसीसे वह अन्त तक आनन्द की अनुभूति कर सकती है।

"मैं तुमसे मिल सकूं, यथा उर से सुकुमार दुकूल"
"मुझे न छूना, जतलाओ मत अपना झूठा प्यार।
धूल समझकर छोड़ चुका हूँ यह कलुषित संसार ॥"
"धूम जिसके क्रोड़ में है, उस अनल का हाथ हूँ मैं।
नव प्रभा लेकर चला हूँ, पर जलन के साथ हूँ मैं ॥"

एक उद्धरण और देख लीजिये :—

"मैं समीप, असीम सुख से, सींचकर संसार सारा।
सांस की विरदावली से, गा रहा हूँ यश तुम्हारा ॥
पर तुम्हें अब कौन स्वर, स्वरकार ! मेरे पास लाये ?
भूलकर भी तुम न आये ॥"
"यह जीवन तो छाया है, केवल सुख दुख की छाया।
मुझको निर्मित कर तुमने, आँसू का रूप बनाया ॥"

उनकी यह भावना कबीर की "सपने में साँई मिले, सोबत लिया जगाय।" रहस्यमयी भावना से मिलती जुलती है ।

वर्मा जी जितने उच्चकोटि के कवि हैं उतने ही सुन्दर नाटककार भी हैं। इनके नाटकों में अभिनयशीलता प्रधान रूप से है। वह रंगमंच पर सरलता से खेले जा सकते हैं। नाटकों के विषय मुख्य रूप से ऐतिहासिक ही होते हैं। आपका एक आलोचना-ग्रन्थ भी प्रकाशित हो चुका है। इसलिए वर्मा जी कवि, गद्य-लेखक और नाटककार सब-कुछ हैं।

———

रामधारीसिंह 'दिनकर'

जीवन-परिचय—हिन्दी संसार रामधारीसिंह 'दिनकर' से उनके वास्तविक नाम से, बहुत कम परिचित है। वह सर्वत्र 'दिनकर' के नाम से ही विख्यात हैं। इनका जन्म सं० १९६५ वि० में बिहार के मुंगेर जिला के अन्तर्गत सिमरिया ग्राम में हुआ था।

'दिनकर' जी की प्रारम्भिक शिक्षा उनके गाँव की पाठशाला ही में हुई। सन् १९३२ ई० में पटना विश्वविद्यालय से उन्होंने बी० ए० पास किया। कविता लिखने की ओर उनकी रुचि प्रारम्भ से ही थी। "प्रभा गंगा" नाम का काव्य उन्होंने मैट्रीकुलेशन पास करने के बाद ही लिखा था।

'दिनकर' जी को इतिहास, राजनीति और दर्शन से विशेष प्रेम है। वे उर्दू, संस्कृत और बंगला भी अच्छी तरह से जानते हैं।

'दिनकर' जी का नवयुवक कवियों में प्रमुख स्थान है। उनकी कवितायें बड़ी रुचि के साथ पढ़ी जाती हैं। वीर रस आपका प्रधान रस है।

रचनायें—दिनकर जी की रचनाओं का हिन्दी-संसार में बहुत मान है। उन्होंने अपने जीवन के प्रथम प्रहर से ही कविता लिखना प्रारम्भ कर दिया था। आपको अपनी कविताओं पर कई बार पुरस्कार भी मिला। इस समय तक आपकी नीचे लिखी हुई पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं:—

काव्य-संग्रह—रेणुका, रसवन्ती, द्वन्द्वगीत, हुँकार, धूपछाँह, सामधेनी, बापू।

महाकाव्य—कुरुक्षेत्र।

आलोचना—मिट्टी की ओर।

भाषा और शैली—'दिनकर' जी की भाषा शुद्ध खड़ीबोली है। उनका शब्द-चयन अत्यन्त पुष्ट है। उनकी भाषा में भावों की शिथिलता कहीं देखने को न मिलेगी। उनकी भाषा उनके विचारों के सर्वथा अनुकूल होती है। इसलिए उनकी भाषा का प्रभाव हृदय पर बहुत स्थायी होता है। उनकी भाषा बहुत सरल और रोचक होती है। क्लिष्ट शब्दों की योजना तो कहीं मिलेगी ही नहीं। उनकी प्रत्येक पंक्ति में वीर रस छलकता सा जान पड़ता है। वे व्यर्थ पांडित्य-प्रदर्शन का प्रयास नहीं करते। शैली अत्यन्त शुद्ध और प्रौढ़ है। उनकी छन्द योजना नई है और अपनी निजी है। भाषा और शैली दोनों पर उन्हें पूर्ण अधिकार है। अलंकार स्वाभाविक रूप में आते चले जाते हैं, कहीं भी ठूँसठाँस नहीं होती और न भाषा की रोचकता में कोई न्यूनता आने पाती है। व्याकरण की अशुद्धियों से भी उनकी भाषा बची हुई है।

विशेषता—दिनकर जी हिन्दी के क्रान्तिकारी कवि हैं। उनकी कविता हृदय में वीर रस की सी हिलोर उठा देती है। उन्होंने भारत के अतीत का इतना सुन्दर चित्र उपस्थित किया है कि अन्यत्र देखने में कठिनता से मिलेगा। उन्होंने अपनी रचनाओं से हिन्दी साहित्य कोष को भरा-पूरा कर दिया है। आपकी रचनायें ओजपूर्ण अधिक होती हैं। मधुरता अवश्य कुछ कम रहती है। कुरुक्षेत्र उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना है।

'दिनकर' जी की कविताओं में देश-व्यापी जागरण का सन्देश है। उनकी कविता में अतीत के प्रति सहानुभूति और वर्तमान के प्रति असन्तोष है। वह कहते हैं :—

कान्ति धामि ! जाग उठ,
आडम्बर में आग लगादे।
पतन, पाप, पाखंड, जले,
जग में ऐसी ज्वाला सुलगादे॥

'दिनकर' जी की कविताओं में गति है, विचारों में प्रौढ़ता है। इन्हें पढ़ते ही हमारा वीर भाव जाग उठता है। उनकी राष्ट्रीय कविताओं

में एक प्रकार की तड़प है, वेदना है और है क्राँति की भावना। राष्ट्रीय भावनाओं को चित्रण करने में 'दिनकर' जी का गुप्त जी के पश्चात् दूसरा स्थान है। दूसरी प्रकार की रचनायें विश्व-कल्याण भावनाओं से भरी हुई हैं। वह विश्व को एक परिवार बना देने के पक्षपाती हैं। वह विश्व में शान्ति चाहते हैं, किन्तु क्रान्ति द्वारा। जिस तरह उन्हें अपने देश की परिस्थितियाँ व्याकुल कर देती हैं उसी प्रकार विश्व की परिस्थितियाँ भी उन्हें व्याकुल कर देती हैं।

यह स्वभाव से प्रकृति के लिए अपने हृदय में एक अनुराग रखते हैं। इसीलिए उनके प्रकृति-चित्रण बहुत सजीव हुए हैं। साराँश यह है कि उन्होंने अपने गीतों द्वारा देश को अपूर्व सम्पत्ति प्रदान की है, जो सदैव ही हिन्दी साहित्य को सम्पन्न बनाये रक्खेगी। उनका सन्देश जागृति की एक शंखध्वनि है। वह आशा का एक सन्देश है।

"जागरूक की जय निश्चित है,
हार चुके सोने वाले।"
"क्रान्ति-धात्रि कविते ! जाग उठ,
आडम्बर में आग लगादे।"
"पतन, पाप, पाखण्ड, जले,
जग में ऐसी ज्वाला सुलगादे।"
"नव-युग-शंख-ध्वनि जगा रही,
तू जाग, जाग मेरे विशाल॥"

उनका हृदय समाज का हृदय है जो अपने बच्चों की दयनीय दशा देखकर तड़पने लगता है किन्तु फिर साहस बांधकर स्वर्ग को भी ललकारने लगता है :—

"हटो पन्थ से मेघ, तुम्हारा स्वर्ग लूटने हम जाते हैं।
वत्स, वत्स, ओ वत्स, तुम्हारा दूध खोजने हम जाते हैं॥"

कितनी सुन्दर एवं सहानुभूति-पूर्ण भावना है। इस प्रकार वह एक परिवर्त्तन चाहते हैं और वह परिवर्त्तन ऐसा हो जिससे भूखे नंगे भारत का भविष्य एक बार फिर बन जाय, वह पूर्ववत् ही सम्पन्न हो जाय। धन्य है कवि की ऐसी क्रान्तिकारिणी भावना को।

———

श्यामनारायण पाण्डेय

जीवन-परिचय- योग्य पुरुषों के, "आत्मा वै जायते पुत्रः" के आधार पर योग्य पुत्र ही उत्पन्न होते हैं, जैसा वृक्ष होता है तदनुकूल ही उसमें फल लगते हैं, इन लोकोक्तियों को चरितार्थ करते हुए श्री श्यामनारायणजी पाण्डेय ने आजमगढ़ मण्डलान्तर्गत "डुमराँव" ग्राम निवासी परम धार्मिक, वैष्णव, संस्कृत भाषा के विद्वान् माननीय श्री रामाज्ञा जी पाण्डेय के घर में विक्रमाब्द संवत् १९६७ में जन्म लिया।

प्रायः यह देखने में आता है कि लक्ष्मी एवं सरस्वती की कृपा के भाजन सभी नहीं होते। ऐसी ही बात आपके सम्बन्ध में भी हुई। जिसके फलस्वरूप आपकी शिक्ष-दीक्षा ग्राम से ही आरम्भ हुई, किन्तु आपके पिता जी के विद्वान् होने के कारण आपकी रुचि देववाणी संस्कृत की ओर आकर्षित हो गई। वयस्क होने पर आप संस्कृत की उच्च शिक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से भोले बाबा श्री विश्वनाथ जी महाराज एवं श्री अन्नपूर्णा महारानी की नगरी वाराणसी में आए। जहाँ के सम्बन्ध में—

'चना चबैना गङ्गजल जो पुरवै करतार।
काशी कबहुं न छोड़िए विश्वनाथ दरबार॥"

की लोकोक्ति प्रसिद्ध है। 'विश्वासः फलदायकः' के आधार पर जो व्यक्ति इस पर विश्वास कर यहाँ विद्याध्ययन करते हैं, उन पर सरस्वती महारानी की कृपा हो ही जाती है।

आपने यहाँ आकर "गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज, बनारस" में अध्ययन किया और वहीं के छात्रावास में रहे। आपने शास्त्री, आचार्य परीक्षायें उत्तीर्ण कर उसी कालेज के सरस्वती-भवन पुस्तकालय में तीन

वर्ष तक अन्वेषण का कार्य किया। तत्पश्चात् आप काशी के माधव संस्कृत विद्यालय में प्रधानाध्यापक हो गए।

आरम्भ से ही आपकी रुचि कविता करने की थी। अतः एकान्त में बैठकर आप कविताएँ किया करते थे। जब तब अवसर प्राप्त होने पर सहपाठियों के आग्रह से आप अपनी रचनाओं से श्रोताओं का मनोरंजन कर देते थे। आप उसी समय से "कविजी" के नाम से प्रख्यात हैं। जिसके फलस्वरूप आपने "त्रेता के दो वीर" एवं "माधव" नामक पुस्तकें लिखकर प्रकाशित कराईं।

आप भगवद्भक्त, सरल स्वभाव एवं परिश्रमी व्यक्ति हैं, छात्रावस्था में स्वास्थ्य ठीक न रहने से कभी कभी आपको खेद भी होता था, किन्तु बाद में आपके अध्यवसाय से आपका स्वास्थ्य भी ठीक हो गया। जिस समय आप कविता सुनाते हैं उस समय आप काव्यगर्भित रस को पूर्णतया प्रकट कर देते हैं।

अपने कार्य में उत्तरोत्तर उद्योग करते रहने के फलस्वरूप आपको "हल्दीघाटी" काव्य पर देव पुरस्कार स्वरूप दो सहस्र मुद्रा प्रदान किए गए। वैसे तो आप अन्य रसों में भी रचनाएँ करते हैं किन्तु वीररस को ही आपने विशेषतया अपनाया है। अतः "जौहर" तथा "हल्दीघाटी" से ही आप अमर एवं ख्याति प्राप्त कवि हुए।

रचनाएँ—पाण्डेय जी ने अभी तक जितने ग्रन्थ लिखे हैं उनकी सूची नीचे दी जा रही है। भविष्य में हिन्दी संसार उनसे बहुत बड़ी बड़ी आशायें लगाये बैठा है।

हल्दीघाटी, रिमझिम, आँसू के कण, जौहर, माधव, तुमुल इत्यादि।

भाषा और शैली—पाण्डेय जी की भाषा शुद्ध, परिष्कृत एवं ओज पूर्ण खड़ीबोली है। उनकी भाषा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह अपने भावों के अनुकूल भाषा को ढाल लिया करते हैं। उनकी भाषा में सरसता है और है माधुर्य। प्रत्येक वाक्य एक चित्रसा चित्रित

करता हुआ मालूम होता है। भाषा में क्लिष्टता तो नाम-मात्र को नहीं आने पाती। बड़े ही सरल और प्रवाह-पूर्ण भाषा में पाठक उनके भावों को हृदय में धारण करता हुआ बढ़ता चला जाता है। अलंकारों की ओर कवि ने व्यर्थ अनुराग प्रदर्शित नहीं किया, जो स्वाभाविक रूप में अलंकार आते हैं वह आते चले जाते हैं, कहीं पर किसी अलंकार को बरबस लाने के लिए भाषा या भाव की तोड़-मरोड़ नहीं मिलेगी। आपकी शैली भी अपनी निजी शैली है जो बड़ी रोचक और सरस है।

"मौन-मौन गिरि कहते हिल-मिल गाथा वीर जवानों की।
एक एक पत्थर कहता है करुण कथा बलिदानों की॥
तरु के पत्तों पर अङ्कित राणा की अमर कहानी है।
अब तक पथ से मिटी नहीं चेतक की चरण निशानी है॥"

उनकी भाषा में उतार चढ़ाव है, गति है और ओज है जो पाठकों को श्रवण-मात्र से ही भाव-विभोर कर देता है।

"क्रीड़ा होती हथियारों से, होती थी केलि कटारों से।
असिधारा देखने को उँगली कट जाती थी तलवारों से॥
हल्दी घाटी का भैरव पथ रंग दिया गया था खूनों से।
जननी पद अर्चन किया गया जीवन के विफल प्रसूनों से॥
अब तक उस भीषण घाटी के कण कण की चढ़ी जवानी है।
राणा, तू इसकी रक्षा कर यह सिंहासन अभिमानी है॥"

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पाण्डेयजी ने अपनी कविता में साधारण से साधारण किन्तु संतुलित शब्दों का प्रयोग किया है, तथा यत्र-तत्र एक दो उर्दू शब्दों का भी। उनकी भाषा अत्यन्त व्यावहारिक और टकसाली है।

पाण्डेय जी राष्ट्रीय युग के प्रधान कवि हैं। लोक प्रसिद्ध महाकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त की भाँति आपने भी भारत के प्राचीन गौरव, तत्कालीन वीरता का प्रदर्शन कर "हल्दीघाटी" एवं 'जौहर' द्वारा भारतीयों को जागरण, सोत्साह एवं कर्तव्यपालन की ओर आकृष्ट

करने का प्रशंसनीय कार्य किया है।

कवि जी की भाषा खड़ी बोली है। जो ओज, प्रवाह, परिष्कृत, व्याकरण-सम्मत एवं रस तथा भावानुकूल है। आपकी रचना वीरतापूर्ण भावों को व्यक्त करने में समर्थ एवं चित्ताकर्षक है। साथ ही श्रवण के समय श्रोताओं के मन में उत्साह का संचार कर देती है। उसमें सरसता एवं मधुरता का सुन्दर समन्वय भी है। अतः यह स्पष्ट है कि आप आधुनिक काल के वीर रस के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। रचनाओं के अतिरिक्त आपकी कविता-पठन की पद्धति अपूर्व एवं श्रवण-योग्य ही है। इसमें आपके रसानुकूल उपविशन एवं वक्तृत्व से जनता मन्त्रमुग्ध एवं प्रभावित हो जाती है। जिसके फलस्वरूप आपका हिन्दी काव्य संसार में विशेष समादर है।

"स्वतन्त्रता के लिए मरो, राणा ने पाठ पढ़ाया था,
इसी वेदिका पर वीरों ने, अपना शीश चढ़ाया था।
तुम भी तो उनके वंशज हो, काम करो कुछ नाम करो,
स्वतंत्रता की बलिवेदी है, झुक कर इसे प्रणाम करो॥"

वीर रस से पूर्ण एक उद्धरण और देख लीजिए :—

"जयमल ने जीवन दान दिया, पत्ता ने अर्पण प्राण किया।
कल्ला ने इसकी रक्षा में, अपना सब कुछ कुर्बान किया॥
साँगा को अस्सी घाव लगे, मरहम पट्टी थी आँखों पर।
तो भी उसकी असि बिजली सी, फिर गई छपाछप लाखों पर॥
अब भी करुणा की करुणकथा, हम सबको याद जबानी है।
राणा, तू इसकी रक्षा कर, यह सिंहासन अभिमानी है॥"

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि पाँडेय जी खड़ी बोली के प्रसिद्ध वीर काव्य-कार हैं। भूषण के उपरान्त हिन्दी मे वीर रस में स्फुट छन्द नहीं लिखे गये, किसी भी कवि ने काव्य नहीं लिखा। पाण्डेयजी ने इस कमी को पूरा कर दिया। उनकी "हल्दी घाटी" वीर रस की आधुनिक

सर्वश्रेष्ठ रचना है। कवि की लेखनी आज भी उसी दशा में बढ़ रही है। इस प्रजातन्त्र के युग में जब भारत स्वाधीन हुआ है, उसकी दीर्घकालीन शृंखलाएँ भग्न हुई हैं, उनमें चिर-सुप्त स्वातन्त्र्य-भावनाओं को पुनः जाग्रत करने के लिए ऐसे ही वीर रस के काव्यालंकारों की आवश्यकता है जिससे उनकी चिर-सुप्त हृत्तन्त्री पुनः झंकृत हो उठे, वह स्वदेश-प्रेम, स्वदेश-भक्ति तथा "स्वराज्य" के वास्तविक महत्त्व को समझ सके, साथ ही उसका अनुगमन भी कर सके। देश को ऐसे कवियों की नितान्त आवश्यकता है। यास्तव में ऐसे ही महान् कवि युग-प्रवर्तक तथा उसमें एक नवीन धारा का संचार करने वाले कहे जाते हैं।

प्रवृत्ति थी। अपने मित्रों की सहायता से उन्होंने "ब्राह्मण" नामक मासिक पत्रिका प्रकाशित की, इसके उपरान्त संवत् १८८९ विक्रमी में वह कालाकाँकर से प्रकाशित होने वाले "हिन्दी हिन्दोस्थान" के सहकारी सम्पादक के स्थान पर काम करने लगे किन्तु अधिक समय तक इस कार्य को न चला सके। इन सभी बातों से उनकी साहित्य-सेवा-भावना स्पष्ट हो जाती है। उनके विषय में इतना और कह देना आवश्यक है कि वह प्रारम्भ से ही आलसी थे और हास्य विनोदी थे। इसीसे उन्हें अपने स्थान की स्वच्छता का भी ध्यान नहीं रहता था। वह आर्य समाज, तथा ब्रह्म समाज आदि में भी सम्मिलित हुआ करते थे। यही नहीं काँग्रेस से भी उन्हें विशेष अनुराग था। वह गोरक्षाके भी विशेष पक्षपाती थे। संवत् १९६१ विक्रमी में उनका देहावसान हो गया।

रचनाएँ—मिश्रजी अपने समय के एक अच्छे साहित्यकार थे। उन्होंने कई मौलिक पुस्तकें लिखीं, तथा कुछ का अनुवाद भी किया; किंतु साहित्यिक दृष्टि से इस समय उनका अधिक महत्त्व नहीं है।

अनूदित रचनाएं—राजसिंह, राजधानी, कथामाला संगीत, शकुन्तला, सेनवंश इत्यादि।

मौलिक रचनाएँ—(नाटक) कलिप्रभाव, हठी हमीर, गो संकट, भारत दुर्दशा, कलि कौतुक।

काव्य ग्रन्थ—लोकोक्ति शतक, शृंगार विलास, प्रेम पुस्पावली, शव सर्वस्य, मानस विनोद, मन की लहर आदि।

भाषा-शैली—मिश्रजी की भाषा अत्यन्त सरल और सुबो ः है। उसमें ग्रामीणता भी पर्याप्त मात्रा में है। वह भारतेन्दु-युग की विकासोन्मुखी धारा में अवतीर्ण तो हुये थे, किन्तु शिक्षाके अभाव में उस भाव लहरी में प्रवगाहन न कर सके। यही कारण है कि उनकी भाषा में तद्वत् परिष्कार भी नहीं हुआ है। इतना अवश्य है कि उनका भाव प्रवाह रोचक

है, साथ ही कुछ चुटीलापन भी लिए हुए है। उर्दू मिश्रित हिंदी का एक उदाहरण देख लीजिए:—

हुजूर की मुलाजमत से अक्ल ने स्तीफा दे दिया हो तो दूसरी बात है, नहीं तो आप यह कभी न कह सकेंगे कि "आप लफ्जे-फारसी या अरबीस्त" अथवा "ओह इटिज इन इंगलैंड वर्ड" (Oh it is an England word)। जब यह नहीं है तो खाहमखाह यह हिन्दी शब्द है, पर कुछ सिर-पैर मुंहगोड़ भी है कि यों हीं ?··· "

"खैर, जो कुछ रह गया है उसीके रखने का यत्न करो, पर अपने ढंग से, न कि विदेशी ढंग से। स्मरण रखो जब तक उत्साह के साथ अपनी रीति-नीति का अनुसरण न करोगे तब तक कुछ न होगा। अपनी बातों को बुरी दृष्टि से देखना पागलपन है। रोना निस्साहसों का काम है, अपनी भलाई अपने हाथ से ही हो सकती है। माँगने पर नित्य कोई डबल रोटी का टुकड़ा भी न देगा। इससे अपनापन मत छोड़ो। कहना मान जाव, आज होली है।"

उनकी भाषा में पण्डिताऊनपन तथा पूर्वीपन अधिक है! उसमें ग्रामीण शब्दों का भी अधिक प्रयोग हुआ है। कहीं कहीं पर तो उन्होंने ऐसे अप्रचलित शब्दों तक का प्रयोग किया है जो भाव-स्पष्ट करने में सर्वथा असमर्थ हैं। उन्होंने अपने मत को पुष्टि के लिए लोकोक्तियों, मुहावरों, यहाँ तक कि संस्कृत पंक्तियों तक का प्रयोग किया है। इससे उनकी भाषा में एक प्रकार की चित्ताकर्षक शक्ति आजाती है जो सभी प्रकार की रचनाओं की प्राण है। इसीसे उनके अत्यन्त साधारण से साधारण विषय भी अत्यन्त सरस एवं चित्ताकर्षक हो गये हैं।

"आखिर एक दिन मरना है और "मूँदि गईं आखें तब लाखें कहि काम की॥" पर यदि हम ऐसा समझकर सबसे सम्बन्ध तोड़ दें तो सारी पूँजी गंवाकर निरे मूर्ख कहलावें, स्त्री पुत्रादि का प्रबंध न करके उनका जीवन नष्ट करने का पाप मुड़ियावें।"

"अगले लोग कह गये हैं कि आदमी कुछ खोके सीखता है, अर्थात् धोखा खाए बिना अक्किल नहीं आती, और बेईमानी तथा नीति कुश-

लता में इतना ही भेद है कि जाहिर हो जाय तो बेईमानी कहलाती है, और छिपी रहे तो बुद्धिमानी है।"

"सच है ! भ्रमोत्पादक भ्रमस्वरूप भगवान् के बनाये हुए भव में जो कुछ है, भ्रम ही है। जब तक भ्रम है तभी तक संसार वरंच संसार का स्वामी भी तभी तक है, फ़िर कुछ भी नहीं॥"

"हम तो उनको जे जैं कार मनावेंगे जो अपने देशवासियों से दांत काटी रोटी का बर्ताव रखते हैं। परमात्मा करे कि हर हिन्दू-मुसलमान का देशहित के लिए चाव के साथ दातों पसीना आता रहे। इससे बहुत कुछ नही हो सकता तो यही सिद्धान्त कर रक्खा है कि—

"कायर कपूत कहाय, दाँत दिखाय भारत तम हरौ।"

इस प्रकार हम संक्षेप में कह सकते हैं कि साहित्य साधना की दृष्टि से मिश्रजी का स्थान विशेष महत्व का है, उन्होंने भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के हिन्दी-साहित्य-विकास-कार्य को और भी आगे बढ़ाया। उनके विषय में इतना और कहा जाता है कि "जिस विदग्ध साहित्य के लिए पण्डित बालकृष्ण भट्ट जी का नाम लिया जाता है उसके एक अंग की पूर्ति पण्डित प्रताप नारायण मिश्र द्वारा भी हुई। इनके निबन्ध भावात्मक कोटि में आते हैं।' इतना अवश्य है कि वह अपनी भाषा को स्थिर करने में अधिक सफल न हो सके। "यदि भारतेन्दु ने निबन्ध का शिलान्यास किया है तो भट्टजी ने उसे नागरिक और साहित्यिक समाज की विनोद सामग्री बनाया और पण्डित प्रतापनारायण मिश्र ने उसकी सीमा व्यापक बनाकर ग्रामीण जनता के हृदयों तक उसकी पहुँच कर दी।

———

बालकृष्ण भट्ट

जीवन-परिचय—पण्डित बालकृष्ण भट्ट का जन्म संवत् १९०१ विक्रमी में प्रयाग में हुआ था। भट्ट जी के पिता श्री वेणीप्रसाद जी ने उनकी शिक्षा दीक्षा की प्रारम्भ से ही समुचित व्यवस्था करदी थी। इधर भट्ट जी भी प्रारम्भ से ही अध्ययनशील थे। अपने यहाँ के मिशन स्कूल में उन्होंने एन्ट्रेन्स तक अङ्गरेजी पढ़ी, और घर पर संस्कृत का अध्ययन किया। कुछ समय उपरान्त वह जमुना मिशन स्कुल में संस्कृत-अध्यापक हो गये। किन्तु वहाँ का ईसाई वातावरण अपनी धार्मिक भावनाओं के विपरीत देखकर उन्होंने स्कूल छोड़ दिया। विवाह हो जाने के उपरान्त वह व्यापार करने के लिए कलकता चले गये, किन्तु कुछ ही दिनों के पश्चात् वहाँ से लोट आये और साहित्य-आराधना में अपना समय बिताने लगे और जीवन-पर्यन्त इसी सेवा व्रत में लगे रहे।

प्रयाग के कुछ शिक्षित नवयुवकों के सहयोग से सन् १८७७ ई० में "हिन्दी प्रदीप' का प्रकाशन हुआ। भट्ट जी ने इसके प्रकाशन में सबसे अधिक सहयोग दिया, यहां तक कि जब तत्कालीन नवीन प्रेस ऐक्ट से भयभीत होकर अन्य साथियों ने उसका साथ छोड़ दिया, तो भट्ट जी ने अकेले ही उस गुरु भार को उठाया और ३२ वर्ष तक सफलता पूर्वक उसका संपादन करते रहे। इस प्रकार भट्टजी हिन्दी के प्रमुख लेखक एवं संपादक थे। उन्होंने कुछ समय तक कायस्थ पाठशाला में संस्कृत अध्यापक के स्थान पर भी काम किया। वहाँ से विरत हो जाने से उन्हें आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा जिसके फलस्वरूप "हिन्दी प्रदीप" का भी मार्ग अवरुद्ध हो गया। उन्होंने काशी नागरी प्रचारिणी

सभा के "हिन्दी शब्द-सागर' का भी कुछ समय तक सम्पादन किया, किन्तु अस्वस्थता के कारण यह काम भी उन्हें छोड़ना पड़ा। उनकी बीमारी बढ़ती गयी। संवत् १९७१ विक्रमी में उनका स्वर्गवास होगया।

रचनाएँ––भट्ट जी ने अपना अधिकांश समय 'प्रदीप' के संपादन में ही लगाया। इसीसे उनकी अधिक रचनाएँ नहीं दिखलाई पड़ती हैं। इसके अतिरिक्त उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ इस प्रकार हैं:–

सौ अजान एक सुजान, नूतन ब्रह्मचारी, कलिराज की सभा, रेल का विकट खेल, बाल विवाह नाटक, भाग्य की परख, जैसा काम वैसा परिणाम, आचार विडंबना, साहित्य सुमन आदि। उन्होंने पद्मावती और शर्मिष्ठा नाम के दो नाटक भी लिखे हैं। उनके निबन्धों का संग्रह "भट्ट निबन्धावली' में हुआ है, जो साहित्य सम्मेलन प्रयाग से दो भागों में प्रकाशित हुई है। इसके साथ ही उन्होंने षट्-दर्शन-संग्रह का भाषानुवाद भी किया है।

भाषा-शैली— भारतेन्दु युग के प्रमुख लेखकों में भट्ट जी तथा मिश्र जी का स्थान विशेष महत्व का है। इन्होंने साहित्यिक निबन्ध लिखकर भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के कार्य को और भी आगे बढ़ाया। भट्टजी के निबन्धों में मिश्रजी की अपेक्षा साहित्यिकता अधिक है। उनमें दार्शनिकता है तथा अपने व्यक्तित्व की छाप है। इसीसे उनकी तुलना अंगरेजी के प्रसिद्ध लेखक लैम्ब से की जाती है। उनकी भाषा सरल, सरस एवं भावानुकूल है। वह मिश्रजी की भाषा की अपेक्षा परिमाजित भी अधिक है। वह शिष्ट तथा संयत है। संस्कृत उर्दू फारसी आदि के अच्छे ज्ञाता होने के कारण वह दो धाराओं में विभक्त हो गयी हैं एक ओर संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्राधान्य है तो दूसरी ओर संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ साथ उर्दू फारसी, तथा अङ्गरेजी शब्दों का भी मिश्रण हुआ है।

"वात्सल्य रस की शुद्ध मूर्ति माता के सहज स्नेह की तुलना इस जगत में–जहाँ केवल अपना स्वार्थ ही प्रधान है—कहीं ढूंढने से भी न पाइएगा।"

"सौतेली माँ 'सुरुचि' के बज्रपात सदृश वाक प्रहार से ताड़ित और पिता की अवज्ञा और निरादर से अत्यन्त संतापित ध्रुव को जब वह केवल पांच वर्ष के बालक थे, सुनीति देवी का एक बार का प्रोत्साहन ध्रुव पद की प्राप्ति का हेतु हुआ, जिसके समान उच्च और स्थिर पद आज तक किसी को मिला ही नहीं।"

"माँ में पिता के समान प्रत्युपकार की वासना भी नहीं है, दया मानों देह धरे सामने आकर खड़ीं हो जाती है।" "कहाँ तक गिनावें, संपूर्ण भारत-का-भारत इसी कल्पना के पीछे भारत हो गया जहाँ कल्पना (Theory) के अतिरिक्त करके दिखाने योग्य (Practical) कुछ रहा ही नहीं। योरप के अनेक वैज्ञानिकों की कल्पना को कर्तव्यता (Practical) में परिणत होते देख यहाँ वालों को हाथ मल-मल पछताना और कल्पना पड़ा।"

भट्ट जी में भी कहीं-कहीं पर उपदेश देने की प्रवृति दिखलाई पड़ती है। एक उदाहरण देख लीजिए।

"प्रिय पाठक ! यह कल्पना बुरी बला है। चौकस रहो, इसके पेच में कभी न पड़ना, नहीं तो पछताओगे। आज हमने भी इस कल्पना की कल्पना में पड़ बहुत सी झूठी झूठी कल्पना कर आपका थोड़ा सा समय नष्ट किया, क्षमा करिएगा।"

भट्ट जी ने मुहावरों का भी अच्छा प्रयोग किया है। इससे उनकी भाषा की सरसता और भी अधिक बढ़ जाती है। कही कहीं पर तो उन्होंने मिश्रजी के ही समान मुहावरों की झड़ी लगादी है। इस विषय में आचार्य शुक्ल जी लिखते हैं।

"एक बार वह मेरे घर पधारे थे। मेरा छोटा भाई आंखों पर हाथ रखे उन्हें दिखाई पड़ा। उन्होंने पूछा भैया ! आँख में क्या हुआ है ?" उत्तर मिला—"आँख आई है।" वे चट बोल उठे "भैया ! यह आँख बड़ी बला है। इसका आना, जाना, उठना, बैठना, सब बुरा है।"

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वह जनता के मन को अपनी ओर आकर्षित करना चाहते थे। संभवतः इसीसे उन्होंने अपने निबन्धों के

शीर्षक भी ऐसे ही रक्खे हैं यथा कुआर के दश दिन, ईश्वर की क्या ठठोल है ? मानवी संपति, हमारे मन की मधुपवृत्ति, नाक निगोड़ी भी बुरी बला है, भकुआ कौन कौन है ? संसार कभी एकसा न रहा, आँसू, माँगी रोटी मिला पत्थर, बातचीत आदि। इनमें उन्होंने अंगरेजी के शब्द intellect, speech, philosophy, art of conversation, character शब्द भी उन्होंने बड़े अच्छे ढंज से प्रयुक्त किए हैं। कहा यह जाता है, कि निबन्ध लिखते समय एक ओर तो वह अपने देश के ही नहीं अपितु भिन्न देशीय भाषा विशारदों के लेखों का भी ध्यान रक्खा करते थे। इसीसे उनकी रचनाओं में एक ओर तो कालिदास, भवभूति, बिहारी आदि की छाप है तो दूसरी ओर मैकाले, जानसन, एडीसन आदि पाश्चात्य विद्वानों का भी प्रभाव है।

"वह प्यारी २ मुग्ध मुख छवि जिसे देखते ही आँख लुभा उठती है, जी जुड़ाता है, जिसके धूलि-धूसरित, स्वभाव सुन्दर सुहावने कोमल अंग-प्रत्यंग के दरस-परस को भाग्य हीन जन तरसते हैं - चिरात्सुत स्पर्श रस ज्ञता ययौ —उसका सब रंगढंग जवानी के आते ही अथवा यों कहिए पौगंड बीत जाने पर किशोर अवस्था के पहुँचते ही कुछ और का और हो गया।"

उनकी शैली पर पूर्वीपन का भी प्रभाव लक्षित होता है। वह "समझा बुझाकर" के स्थान पर "समझाय बुझाय" अधिक पसन्द करते थे। इसी से उनमें एक प्रकार का पण्डिताऊपन सा आ गया है, साथ ही सरसता भी।

उनकी शैली के विषय में इतना ही कह देना पर्याप्त है कि उन्होंने परिचयात्मक तथा भावात्मक शैलियों को अधिक अपनाया। परिचयात्मक शैली की भाषा अधिक चलती हुई है, उसके वाक्य छोटे तथा गठे हुए हैं। किंतु इसमें साहित्यिकता का अभाव सा है। इसके दर्शन उनकी भावात्मक शैली मैं होते हैं। साहित्यिकता एवं कल्पना के सुयोग से

उसका रूप और भी अधिक निखर आया है। इसी से उनके निबन्धों की लोक-प्रियता भी अधिक बढ़ गयी है।

अतएव यह निष्पक्ष रूप से कहा जा सकता है कि हिन्दी में विदग्ध साहित्य का सृजन भट्ट जी ही ने किया। उनमें भारतेन्दु की अपेक्षा प्राँजलता भी अधिक है। भट्ट जी की गद्य उनसे कहीं अधिक सुधरी हुई है। यही नहीं उनके भावात्मक निबन्ध भी भारतेन्दु से कहीं आगे निकल गये हैं। अतएव हम कह सकते हैं कि उन्होंने भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के काम को और भी आगे बढ़ाया "तथा अपने समकालीन निबन्ध लेखक पण्डित प्रतापनारायण मिश्र जी के ग्रामीण साहित्य-को काट-छाँट कर भट्ट जी ने उसमें नागरिकता और साहित्यिकता लाने का अच्छा प्रयत्न किया है।"

महावीरप्रसाद द्विवेदी

जीवन-परिचय—पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी का जन्म राय-बरेली के अन्तर्गत दौलतपुर ग्राम में वैशाख शुक्ल ४ संवत् १९२१ विक्रमी में कान्य कुब्ज परिवार में हुआ था। उनके पिता पं० रामसहाय दुबे कम्पनी की सेना में नौकर थे। उस समय उर्दू का बोल-बाला था ही, अतएव द्विवेदी जी को भी प्रारम्भ में उर्दू ही सीखनी पड़ी। प्रायमरी शिक्षा के उपरान्त अङ्गरेजी पढ़ने के लिए वह रायबरेली भेजे गये, किंतु आर्थिक स्थिति अच्छी न होने के कारण उनका पढ़ना लिखना बीच में ही छूट गया। इसके उपरान्त वह अजमेर चले गये और १५) मासिक वेतन पर रेलवे में नौकरी कर ली। एक वर्ष के उपरान्त वह अपने पिता के पास बम्बई चले आये। यहाँ पर उन्होंने तार का काम सीख लिया तथा रेलवे में ही २५) मासिक वेतन पर नौकरी करली। कुछ ही समय पश्चात् वह अपने विभाग के प्रधान क्लर्क भी हो गये। इसी समय बंगालियों के सम्पर्क में आ जाने के कारण उनमें साहित्यिक-प्रेम की भावना जागृत हो गयी। उन्होंने प्रारम्भ में कुछ संस्कृत ग्रन्थों का भाषानुवाद किया, तथा साहित्य सेवा व्रत सुचारु रूप से पूर्ण करने के लिए मराठी, गुजराती, बंगाली, अङ्गरेजी आदि में भी अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। साहित्य सेवा-भावना के अधिक उत्कट हो जाने पर उन्होंने नौकरी छोड़ दी और तन मन से साहित्य-क्षेत्र में उतर कर साहित्य सेवा प्रारम्भ कर दी।

संवत् १९०३ में उन्होंने सरस्वती का संपादन प्रारम्भ किया और २० वर्ष तक सफलता पूर्वक उसका सम्पादन करते रहे। इस गुरु सेवा-भार से अवकाश ग्रहण कर लेने के उपरान्त भी वह उसके कलेवर को

सजाने के लिए अपने भाव-पूर्ण लेख लिख दिया करते थे। इस प्रकार हम अनुमान लगा सकते है कि उनका अधिकाँश समय लिखने पढ़ने में ही बीतता होगा। द्विवेदी जी जब आर्थिक सङ्कट में पड़ गये तो रामगढ़ नरेश ने उनकी पर्याप्त सहायता की और इस प्रकार उनको साहित्य-सेवा-कार्य के लिए अग्रसर किया। वह अपने युग के सुप्रसिद्ध साहित्यिक थे। उनकी विद्वत्ता की धाक मान कर काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने सन् १६३१ ई० में। उन्हें सर्व प्रथम "आचार्य" की पदवी से विभू षित किया था। वह कुछ समय तक इस सभा के सभापति भी रहे।

द्विवेदी जी अत्यन्त सरल प्रकृति के थे, तथा खान-पान आदि सभी नियमों के पालन करने में सचेष्ट रहते थे। वह स्वाभिमानी तथा पूरे निर्भीक थे। जीवन के अन्तिम दिनों में उन्हें जलोदर रोग हो गया और अन्त में २१ दिसम्बर सन् १६३८ ई० में उनका देहावसान हो गया।

रचनाएँ––द्विवेदी जी हिन्दी-साहित्य के युग-स्रष्टा थे। उहोंने गद्य, पद्य, समालोचना, निबन्ध आदि सभी विषयों पर सफलतापूर्वक अपनी लेखनी चलाई। उन्होंने कुछ ग्रन्थों का अनुवाद भी किया। वे इस प्रकार हैं:—विनय विनोद, स्नेहमाला, विहार बाटिका, ऋतुतरंगिणी, कुमार संभव, गंगालहरी, वेचन विचार रत्नावली, भामिनी विलास, स्वाधीनता, हिन्दी महाभारत, शिक्षा शास्त्र, रघुवंश, मेघदूत, किरातार्जुनीय विशेष प्रसिद्ध हैं। मौलिक ग्रन्थ (काव्य)—काव्य मंजूषा सुमन।

(गद्य नैषध चरित चर्चा, हिन्दी कालिदास की समालोचना, दार्शनिक परिभाषा शब्द कोश, नाटक शास्त्र, जल चिकित्सा, हिंदी भाषा की उत्पत्ति, सम्पत्ति शास्त्र, प्राचीन पण्डित और कवि, रसज्ञ रंजन, कालिदास, सुकवि कीर्तन, वक्तृत्व कला, आख्यायिका सप्तक, साहित्य संदर्भ, आलोचनाँजलि, समालोचना समुच्चय, प्राचीन चिन्ह, पुरातत्व प्रसङ्ग, साहित्यसीकर, तथा विचार विमर्श विशेष प्रसिद्ध हैं।

भाषा तथा शैली––आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का जन्म ऐसे समय में हुआ था, जब भाषा का यत्किंचित् परिष्कार हो चुका था,

वह एक अस्त व्यस्त मार्ग को पार करके ऐसे मार्ग पर आगयी थी, जो टेढ़ा-मेढ़ा तो था, किन्तु था समतल। द्विवेदी जी ने उस टेढ़ को मिटाने के लिए यथाशक्ति प्रयास किया। उन्होंने भाषा को व्याकरण-सम्मत बनाया।

वे भाषा को व्यावहारिक बनाना चाहते थे। इसी से वे संस्कृत, फारसी आदि सभी भाषाओं के प्रचलित शब्दों के प्रयोग करने के हामी थे। इसी लिये उनकी शैली न तो संस्कृत तत्सम पदावली के शब्दजाल से ही युक्त हैं और न उर्दू-फारसी मिश्रित शब्दजाल की ही भरमार है। उन्होंने अपने समकालीन दूसरे लेखकों को भी ऐसी ही शैली अपनाने के लिए अग्रसर किया। वह 'गृह' के स्थान पर 'घर' और 'उच्च' के स्थान पर 'ऊँचा' लिखना अधिक पसन्द करते थे।

"जब राजान्तःपुर ही क्यों सारा नगर नन्दनन्दन बन रहा था, उस समय नवला उर्मिला कितनी खुशी मना रही थी, सो क्या आपने नहीं देखा ?"

"कवि स्वभाव से ही उच्छृङ्खल होते हैं। वे जिस तरफ झुक गये, झुक गये। जी में आया तो राई को पर्वत कर दिया ; जी में न आया तो हिमालय की तरफ भी आँख उठाकर न देखा।"

"कहने की जरूरत नहीं, गोपियों का अनन्य प्रेम और उनकी निर्व्याज भक्ति देखकर भगवान कृष्ण ने उनकी सेवा को स्वीकार करके उन्हें कृतकृत्य कर दिया।"

इसी प्रकार आवश्यकता पड़ने पर उन्होंने दाद, कुर्बान, अख्तियार, तमीज, किस्मत, गैर, जलवा, शायद, मजबूरी, हासिल, मर्ज, बरदाश्त आदि उर्दू के व्यावहारिक शब्द, शूकर, शावक, दंड, विधान, दिन दहाड़े सड़ासड़, तड़ातड़, धाक, बचाखुचा आदि साधारण व्यवहार में आने वाले शब्द, तथा सरजन, प्यूरिटन, प्लास्टर, जनरल आदि अँगरेजी के शब्दों का भी प्रयोग किया है। यही नहीं आकाश पाताल के कुलावे मिलाना, पाप के धड़े भरना, पास न फटकना, काम तमाम करना आदि मुहावरों का भी यथा स्थान प्रयोग किया है।

"यद्यपि अभी दूसरे की चीज को अपनी बताने वालों की कमी नहीं तथापि यह बात खुले खजाने नहीं होती, लुक छिप कर होती है। चोरी से होती है।"

"इस म्यूनिसिपैलिटी के चेयरमैन (जिसे अब कुछ लोग कुर्सीमैन भी कहते हैं) श्रीमान् बूचाशाह हैं। बापदादे की कमाई का लाखों रुपया आपके घर भरा है। पढ़े लिखे आप रूम का नाम ही है। चेअरमैन आप सिर्फ इसलिए हुए हैं कि अपनी कारगुजारी गवर्नमेंट को दिखला कर आप रायबहादुर हो जायँ और खुशामदियों से आप आठ पहर चौंसठ घड़ी सदा घिरे रहें। म्यूनिसिपैलिटी का काम चाहे चले, चाहे न चले। आपकी बला से।"

द्विवेदी जी ने गम्भीर एवं साहित्यिक विषयों पर भी अपनी लेखनी चलाई है। इनमें उनकी भाषा-शैली भी गम्भीर हो जाती है। उनमें कहीं-कहीं पर संस्कृत पदावली भी आ गई है किंतु यह सब होते हुए भी उन्होंने भाषा की बोधगम्यता का विशेष ध्यान रक्खा है। वह भाषा के विषय में स्वयं लिखते हैं –

"बोलचाल से मतलब उस भाषा से है जिसे खास और आम सब बोलते हैं, विद्वान् और अविद्वान् दोनों जिसे काम में लाते हैं। इसी तरह कवि को मुहावरों का ख्याल करना चाहिए। जो मुहावरा सर्व-सम्मत है वही प्रयोग करना चाहिए। हिन्दी और उर्दू में कुछ शब्द अन्य भाषाओं के भी आ गये हैं। वे यदि बोलचाल के हैं तो उनका प्रयोग दोष नहीं माना जा सकता। उन्हें त्याज्य नहीं समझना चाहिये। कोई-कोई ऐसे शब्दों को मूल रूप में लिखना ही सही समझते हैं। पर यह उनकी भूल है।"

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि द्विवेदी जी ने कवियों तथा गद्य-लेखकों-दोनों ही का सम्यग् पथ-प्रदर्शन किया है, विदेशी शब्दों के संबंध में वह श्यामसुन्दरदास जी का ही मत मानते थे।

"जब हम विदेशी भावों के साथ विदेशी शब्दों को ग्रहण करें तो उन्हें ऐसा बना लें कि उनमें से विदेशीपन निकल जावे।" इस प्रकार

वह शब्दों के भारतीयकरण के विशेष पक्षपाती थे। प्रत्येक विषय का "साराँश यह है", "तात्पर्य यह है" इत्यादि कह कर वह अपने विषय का स्पष्टीकरण करते हुए आगे बढ़े हैं। इसी से उनका कोई भी विषय नीरस नहीं होने पाया है।

इस प्रकार हम संक्षेप में कह सकते हैं कि द्विवेदी जी ने भाषा में समुचित परिष्कार किया और उसके रूप को सुव्यवस्थित किया। भाषा का रूप तो भारतेन्दु युग में ही निश्चित हो चुका था, किंतु प्रारम्भ काल होने के कारण तथा भारतेन्दु के अत्यन्त अल्पकाल में ही दिवंगत हो जाने के कारण, उनके समुचित दीर्घकालीन सहयोग के न मिलने के कारण, उसमें कुछ विशृङ्खलता रह गयी थी, उसका कुछ परिष्कार भट्ट जी तथा मिश्र जी के सहयोग से हो गया था, रही सही कमी की पूर्ति द्विवेदी जी के कर-कमलों से हो गयी। उन्होंने विरामादि चिन्हों के प्रयोग के सम्बन्ध में भी तत्कालीन साहित्यिकों का पथ-प्रदर्शन किया, तथा शब्दों के शुद्ध रूपों का भी संस्करण किया। उनका यह कार्य हमारे साहित्य की अमूल्य निधि है। इसी से वह अपने युग के प्रवर्तक माने जाते हैं।

———

बाबू श्यामसुन्दर दास

जीवन-परिचय—बाबू श्यामसुन्दरदास जी का जन्म काशी के एक पंजाबी खत्री खन्ना-वंश में संवत् १९३२ को हुआ था। देवीदास उनके पिता थे। वह अपने समय के सुप्रसिद्ध टकसाली थे। इसी से श्याम-सुन्दरदास का बचपन भी बड़े आनन्द के साथ बीता। यज्ञोपवीत के उपरान्त उनकी संस्कृत व्याकरण तथा धार्मिक ग्रन्थों की शिक्षा प्रारम्भ हुई। कुछ समय पश्चात् अँगरेजी पढ़ने के उद्देश्य से वह नीची बाग के वैसलियन मिशन स्कूल में प्रविष्ट हुए, तदुपरान्त हनुमान—सेमिनरी में प्रविष्ट हुए। यहीं से सन् १८९० में उन्होंने वर्नाक्यूलर मिडिल परीक्षा पास करली। सन् १८९२ में उन्होंने क्वींस कालिजियेट स्कूल से एंट्रेंस परीक्षा तथा १८९४ में इण्टर परीक्षा भी पास करली। तथा सन् १८९७ में बी० ए० पास कर लिया। बी० ए० उत्तीर्ण कर लेने के उपरान्त वह स्थानीय चन्द्रप्रभा प्रेस में ४०) मासिक वेतन पर नौकर हो गये, किन्तु सन् १८९९ ई० में वह हिन्दू कालिज में अध्यापक हो गये। यहीं से उनकी ठोस साहित्य सेवा प्रारम्भ हो जाती है।

मातृ भाषा के प्रचारक बिमल बी० ए० पास।
सौम्य शील-निधान, बाबू श्यामसुन्दरदास॥

बाबू जी हिन्दी के सच्चे सेवक थे। उनकी यह सेवा-भावना इसी से प्रगट हो जाती है कि इण्टर के अध्ययन काल में ही उन्होंने अपने इष्ट-मित्रों के सहयोग से काशी नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना की जो अद्यावधि अपने द्विगुणित उत्साह से साहित्य-सेवा में संलग्न है। सन् १९१३ ई० में वह लखनऊ के कालीचरण हाई स्कूल के प्रधानाध्यापक नियुक्त हो गये और आठ वर्ष तक सफलता-पूर्वक काम करते

रहे। जौलाई सन् १९२१ ई० में उन्होंने इस पद से त्याग-पत्र दे दिया। उसी वर्ष में काशी विश्वविद्यालय में हिन्दी साहित्य की उच्च शिक्षा देने के लिए उनकी नियुक्ति हो गयी। उन्होंने इस कार्य का संचालन बड़ी सफलता के साथ किया। सन् १९२७ ई० में वह रायसाहब तथा १९३३ ई० में राय बहादुर की पदवी से विभूषित किए गये। हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने उन्हें "साहित्य-वाचस्पति" की उपाधि प्रदान कर अपने को कृतार्थ किया, तथा अवकाश-ग्रहण करने के उपरान्त काशी विश्वविद्यालय ने भी डी० लिट् की उपाधि से उन्हें सम्मानित कर अपने को कृत्य-कृत्य किया।

बाबूजी हिन्दी के अनन्य भक्त थे, सच्चे सेवक थे। उन्होंने अपने जीवन-काल में साहित्य की सर्व प्रकार से सेवा की। अवकाश ग्रहण करने के उपरान्त भी वह साहित्य की सेवा में ही तत्पर रहे! अगस्त सन् १९४५ ई० में उनका देहावसान हो गया।

रचनाएँ—बाबूजी हिन्दी के प्रधान उन्नायक थे। उन्होंने हिन्दी में मौलिक रचनाएँ भी लिखीं तथा कुछ का अनुवाद भी किया। उन्होंने प्राचीन ग्रन्थों की खोज भी की और यथासम्भव शुद्ध संस्करण में उन्हें प्रकाशित करके हिन्दी के भण्डार को अमूल्यनिधि से सम्पन्न किया।

मौलिक ग्रंथ—साहित्यालोचन, भाषा-विज्ञान, भाषा रहस्य तीन भाग, हिन्दी भाषा का विकास, गद्य कुसुमावली, गोस्वामी तुलसीदास, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, हिन्दी भाषा, रूपक रहस्य इत्यादि।

अनूदित तथा सम्पादित रचनाएँ—पृथ्वीराज रासो, नासिकेतोपाख्यान, छत्र-प्रकाश, वनिता-विनोद, इन्द्रावती भाग १, शकुन्तला नाटक, रामचरित मानस, दीनदयाल गिरि ग्रन्थावली, मेघदूत, परिमाल रासो इत्यादि।

भाषा-शैली—बाबू श्यामसुन्दर दास जी हिन्दी के प्रधान समालोचक, निबन्ध लेखक, तथा साहित्यकार थे। उनकी भाषा विशुद्ध

साहित्यिक हिन्दी है। वह विषयानुकूल स्निग्ध, सरल तथा गम्भीर है। सरल विषयों के वर्णन में वह अत्यन्त सरल है किन्तु गंभीर विषयों के विवेचन में वह अत्यन्त गम्भीर एवं साहित्यिक हो गयी है। ऐसे विषयों में उन्होंने संस्कृत तत्सम पदावली को अपनाया है। इतना अवश्य है कि सन्धिज अथवा विलष्ट पदावली की इन्होंने भरमार नहीं की। इनके वाक्य अत्यन्त छोटे हैं, किन्तु भाव-मय हैं। वे सिद्धान्त वाक्यों की भाँति अपने अभीष्ट विषय के प्रतिपादन में पूर्ण समर्थ हैं। गम्भीर विषयों के प्रतिपादन में उन्होंने मुहावरों के प्रयोग को भी छोड़ दिया है। सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि जटिलतम विषय के होने पर भी उनके वाक्य अत्यन्त छोटे हैं। अधिकाँश वाक्य तो साधारण वाक्य हैं और केवल एक ही पंक्ति में पूर्ण हो गये हैं। उनमें सेठ गोविन्ददनारायण के वाक्यों का सा विस्तार नहीं है। उन्होंने विदेशी शब्दों को भी ग्रहण किया और विदेशी भावों को भी, किन्तु उनको आत्मसात करके। उनका कहना था :—

"जब हम विदेशी भाषाओं के साथ विदेशी शब्दों को ग्रहण करें तो ऐसा बनालें कि उनमें से विदेशीपन निकल जाय और वे हमारे अपने होकर हमारे व्याकरण के नियमों से अनुशासित हों। जब तक उनके पूर्ण उच्चारण को जीवित रखकर हम उनके पूर्व रूप-रंग, आकार-प्रकार को स्थायी बनाये रहेंगे तब तक वे हमारे अपने न होंगे और हमें उनको स्वीकार करने में सदा खटक तथा अड़चन रहेगी।"

इस मत के आधार पर एक दो उदाहरण भी देख लीजिए "प्रकृति के रम्य रूपों से तल्लीनता की जो अनुभूति होती है, उसका उपयोग कवि गण कभी-कभी रहस्यमयी भावनाओं के संचार में भी करते हैं। यह अखण्ड भूमण्डल तथा असंख्य ग्रह-उपग्रह, रवि-शशि अथवा जल, वायु, अग्नि, आकाश कितने रहस्यमय तथा अज्ञेय हैं।"

"तुलसीदास ने जो कुछ लिखा है स्वान्तः सुखाय लिखा है। उपदेश देने की अभिलाषा से अथवा कवित्व प्रदर्शन की कामना से जो कविता की जाती है, उसमें आत्मा की प्रेरणा न होने के कारण स्थायित्व नहीं

होता। कला का जो उत्कर्ष हृदय से सीधी निकली हुई रचनाओं में होता है वह अन्यत्र मिलना असम्भव है।"

"यह शास्त्र हमको इस बात की छानबीन में प्रवृत्त करता है और बतलाता है कि कैसे संसार की सब बातों की सुक्ष्मातिसूक्ष्म रूप से अभिव्यक्ति हुई, कैसे क्रम क्रम से उनकी उन्नति हुई। जैसे संसार की भूतात्मक अथवा जीवात्मक उत्पत्ति के संबंध में विकास-वाद के निश्चित नियम पूर्ण रूप से घटते हैं वैसे ही वे मनुष्य के सामाजिक जीवन के उन्नति क्रम आदि को भी अपने अधीन रखते हैं। यदि हम सामाजिक जीवन के इतिहास पर ध्यान देते हैं तो हमें विदित होता है कि पहले मनुष्य असभ्य व जंगली अवस्था में थे। सृष्टि के आदि से सब आरंभिक जीव समान ही थे पर सब ने एक सी उन्नति न की।"

"जिन्होंने भारत की हिमाच्छादित शैल माला पर संध्या की सुनहली किरणों की सुषुमा देखी है अथवा जिन्हें घनी अमराइयों की छाया में कलकल ध्वनि से बहती हुई निर्झरिणी तथा उसकी समीपवर्तिनी लताओं की वसन्त श्री को देखने का अवसर मिला है..... उन्हें ..... उपर्युक्त वस्तुओं में सौंदर्यता क्या ? हाँ उलटे नीरसता, शुष्कता और भद्दापन ही मिलेगा।"

एक उद्धरण और देख लीजिए :—

"यह बात तो सोलहों आने ठीक है, पर इसका यह अर्थ नहीं है कि रस का संबंध देवता और परलोक से है। योग का अर्थ है केवल वह चित्त वृत्ति का निरोध पर प्रत्यक्ष और साधारणीकरण का संबंध है।"

"जब मानव-मन किसी रागमयी कल्पना से उद्वेलित होकर अभिव्यक्ति हो उठता है तब वह अभिव्यक्ति प्रायः गीत रूप में हो जाती है।"

बाबूजी की भाषा-शैली की विवेचना के लिए इतने उद्धरण पर्याप्त हैं। "साराँश यह है" "तात्पर्य यह है" कह कर अपने विषयों को स्पष्ट कर देने की उनकी मुख्य प्रवृत्ति थी। इस प्रकार विषय का सिंहावलोकन भी हो जाता है और विषय की पूर्ण अभिव्यक्ति भी हो जाती है। इस

विधि से जटिल से जटिल विषयों तक का सुगमता से स्पष्टीकरण हो जाता है। उन्होंने संस्कृत के तत्सम रूपों में भी कुछ परिवर्तन कर दिया है। कार्य, सौन्दर्य, मौर्य्य आदि रूप ही उन्हें अभीष्ट थे; तथा अञ्जन, फन्दा, गङ्गा आदि के पंचम वर्ण के स्थान पर अनुसार से ही काम लेकर अंजन, फन्दा, गंगा आदि का ही उन्होंने व्यवहार किया तथा दूसरों को भी ऐसा ही करने के लिये उपदेश दिया। इस प्रकार वह भाषा के सुधारक भी थे।

उन्होंने भाषा-विज्ञान के आधार पर कई पुस्तकों की रचना करके हिन्दी साहित्य की जो अभिवृद्धि की है वह स्वर्ण अक्षरों में सदैव ही अङ्कित रहेगी। उन्होंने तुलनात्मक दृष्टि से नागरी अक्षर तथा संस्कृत शब्दों की खोज की और उनका प्रचलित रूप निखारा है। उनके इस कार्य के लिए हिन्दी-संसार सदैव ही कृतज्ञ रहेगा।

बाबू गुलाबराय

जीवन-परिचय—हिन्दी के आधुनिक समालोचक एवं उत्कृष्ट निबन्ध-लेखक बाबू गुलाबराय का जन्म माघ शुक्ल ४ संवत् १९४४ विक्रमी को इटावा नगर के छपैटी मुहल्ले में हुआ था। श्री भवानी प्रसाद जी आपके पिता थे। वह प्रारम्भ में २०) मासिक वेतन पर कचहरी में नौकर थे। वह भगवान के भक्त तथा वेदान्ती थे। आपकी माता भी कृष्ण की भक्त थीं। गुलाबराय जी पर इन सबका पर्याप्त प्रभाव पड़ा। कुछ समय पश्चात् भवानीप्रसाद जी की बदली मैनपुरी हो आई। इस प्रकार बाबू जी का बाल्यकाल मैनपुरी में ही व्यतीत हुआ। यहीं पर उनकी प्रारम्भिक शिक्षा भी सम्पन्न हुई। सबसे पहले आप तहसीली स्कूल में पढ़े, तदुपरान्त अङ्गरेजी पढ़ने के लिए जिला स्कूल में गये वहाँ आठवीं कक्षा तक शिक्षा प्राप्त की। इसके उपरान्त उन्होंने सन् १९०५ ई० में मिशन हाई स्कूल से एन्ट्रेंस परीक्षा पास की। तथा १९११ ई० में आगरा कालेज से बी० ए० परीक्षा उत्तीर्ण की। इसके उपरान्त आप सेण्ट जोंस कालेज में अध्यापक होगये। यहीं से उन्होंने एम० ए० की परीक्षा भी पास की। एम० ए० करने के उपरान्त आप छत्रपुर राज्य में नौकर हो गये। और वहीं से सन् १९१७ ई० में एल० एल० बी० परीक्षा भी पास कर ली। आपने राज्य में महाराजा के प्राइवेट सेक्रेटरी, दीवान तथा बाद में चीफ जज के पद पर सफलता पूर्वक कार्य किया। सन् १९-२२ ई० में आपने अवकाश ग्रहण कर लिया।

इस समय आप सेण्ट जोंस कालेज आगरा में हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष के रूप से अवैतनिक रूप में कार्य कर रहे हैं। आपकी इस सेवा के बदले में कालेज भत्ते के रूप में कुछ भेंट भी देता है। इस सेवा

के साथ ही आप हिन्दी आलोचना के प्रमुख-पत्र साहित्य-सन्देश का भी सफलता पूर्वक संपादन कर रहे है। इससे आपकी साहित्य-सेवा भावना पूर्ण रूपेण स्पष्ट है।

रचनाएँ—बाबूजी हिन्दी के उच्चकोटि के समालोचक तथा लेखक हैं आपने अपने मौलिक ग्रन्थों के साथ ही साथ कुछ ग्रन्थों का सम्पादन भी किया है।

मौलिक रचनाएँ – फिर निराश क्यों ? शान्ति धर्म, मैत्री धर्म, कर्तव्य शास्त्र, तर्कशास्त्र, बौद्ध-धर्म, पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास, नवरस !

प्रबन्ध प्रभाकर, तथा प्रबन्ध माला में आपके निबन्धों का संग्रह है।

हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास, हिन्दी नाट्य विमर्श, सिद्धान्त और अध्ययन, काव्य के रूप, प्रसाद की कला, साहित्य और समीक्षा आदि प्रसिद्ध आलोचनात्मक रचनाएँ हैं। आलोचना कुसुमाँजलि में समालोचना के विविध रूपों पर प्रकाश डाला गया है। जीवन पथ में जीवन से सम्बन्ध रखने वाले मौलिक निबन्धों का संग्रह है। ठलुआक्लब हास्यरस की रचना है तथा मेरी असफलताओं में आत्मकथा के रूप में जीवन का कुछ परिचय है।

भाषा भूषण, सत्य हरिश्चन्द्र, युगधारा, कादम्बरी कथासार आदि संपादित ग्रन्थ हैं। आपने बाल साहित्य के लिए भी कुछ पुस्तकें लिखी हैं। इनमें विज्ञान विनोद तथा 'बाल प्रबोध' अधिक महत्वपूर्ण हैं।

आपका अधिक समय निबन्ध तथा समीक्षात्मक आलोचनाएँ लिखने में ही व्यतीत होता है जो समय समय पर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहती हैं।

भाषा और शैली—बाबू जी की भाषा तत्सम पदावली युक्त खड़ी बोली है। उसमें कहीं कहीं पर सन्धिज शब्दों के साथ कुछ चलते मुहावरों का भी अच्छा प्रयोग हुआ है। न्याय्य, साहाय्य, स्वस्थानोचित, ऐक्योन्मुख, सापेक्षत्व, प्रस्तरीभूत, आदि संस्कृत शब्दो के साथ शायद,

हर एक, पुर्जा, खराब रिवाज, मतलब जैसे उर्दू के शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। आपने यत्र तत्र कम्पोजीटर, केमरा, ग्रामोफोन आदि अङ्गरेजी के शब्दों का भी प्रयोग किया है।

"जो ब्राह्मण के लिये कर्तव्य है वह क्षत्रिय के लिए अकर्तव्य है। सब एक लाठी से नहीं हाँके जा सकते। समाज में यदि सभी लोग मननशील बन जायँ तो उसका चलना कठिन हो जाय। यही विभाग करके हिंदू धर्म ने कर्तव्य के सापेक्षत्व (Relativity of ethics) को भली भाँति दिखाया है.....समाज के आदमी को नष्ट करना और उस संस्थाओं की संगति करना ही धर्मोद्धारक का मुख्य कर्तव्य होता है।"

"कीचड़ से ही कमल की स्थिति है। गुलाब भी कटीले वृक्ष में उगता है। मोती सीप से उत्पन्न होता है। रत्नक्षार समुद्र से निकलता है। मणि खान से निकलती है। गजमौक्तिक हस्ती के मस्तक से निकलती है।"

अपनी कहानी के सम्बन्ध में स्वयं लिखते हैं :—

"मैने अपने जीवन में कोई कहानी नहीं लिखी, इसलिए नहीं कि वह लिखने योग्य चीज नही है, वरन् इसलिए कि मुझ मे कहानी लिखने की योग्यता नहीं।"

आप अपनी कवित्व-शक्ति के सम्बन्ध में एक स्थान पर लिखते हैं।

"कवि हृदय पाकर भी मैं कविता नही लिख सका। इसका कारण यह है कि जब तक गहरी वेदना न हो तब तक कल्पना जाग्रत नहीं होती.....इसके अतिरिक्त मैं सङ्गीत नहीं जानता। इस कमी के कारण कभी कभी ठोक पीट कर मैंने दो एक वर्ण वृत्त लिख लिये, किंतु मात्रिक छन्द नहीं लिख सका। चार छः गद्य काव्य अवश्य लिखे है।"

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आप सभी प्रकार की भाषा लिखने में समर्थ हैं। आप संस्कृत एवं दर्शन शास्त्र के पण्डित हैं। इसका प्रभाव आप की सभी रचनाओं पर है। इसी से उनमें गम्भीरता अधिक आ गयी है। जहाँ कहीं विषय अत्यधिक जटिल है, भाषा भी दुरूह सी हो गयी है। उसमें एक प्रकार की नीरसता आ गयी है जिससे पाठकों का

मन उस ओर से हट जाता है। इतना अवश्य है कि बाबूजी ने पाण्डित्य प्रदर्शन की भावना से ऐसा प्रयास नहीं किया है। विषय के गम्भीर होने के कारण भाषा का जटिल होना सुतरा अपेक्षित है। आपके विषय में एक कहावत चल निकली है। "आपके भाषण शुष्क होते हैं, कैसी भी बड़ी सभा क्यों न हो, आपका भाषण प्रारम्भ करा दिया जावे, बस थोड़ी ही देर में धीरे-धीरे अधिकाँश श्रोतागण सभा-भवन खाली करके चले जावेंगे।"

कुछ भी हो आपके सम्बन्ध में इतना कहना तो सर्वथा उचित ही है कि आपकी भाषा सरल और व्यावहारिक है, किन्तु दार्शनिक विषयों के निगूढ़ तत्वों के समाधान में वह अधिक गम्भीर एवं जटिल हो गयी है, वह साधारण पाठकों के काम की नहीं रह गयी है। यदि देखा जावे तो साधारण पाठक दर्शन-शास्त्र में ध्यान लगाते ही कहाँ हैं। इस विषय में आप स्वयं लिखते हैं।

"इसी दार्शनिकता के कारण मेरी रचनाओं में अनावश्यक बात नहीं आने पातीं। मैं अपनी अल्पज्ञता के कारण अपने लेख को अधिक पाण्डित्यपूर्ण भी नहीं बना सकता, यद्यपि पाण्डित्य का आभास तो अवश्य दे लेता हूँ।" किन्तु

"अब में प्राय गम्भीर बातों में भी हास्य का समावेश करने लगा हूँ। जहाँ हास्य के कारण अर्थ का अनर्थ होने की सम्भावना हो अथवा अत्यन्त करुण प्रसंग हो तो मैं हास्य से बचूंगा अन्यथा मैं प्रसंगागत हास्य का उतना ही स्वागत करता हूँ जितना कि कृपण क्या कोई भी अनायास आए हुए धन का।"

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बाबू जी की भाषा भावानुकूल है। उस में बल है, और भावाभिव्यंजना की पूर्ण शक्ति है। उसमें एक प्रकार का चमत्कार है जो सुधी वृन्द को सहसा अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। इसी से आपका निबन्ध साहित्य भी अत्यधिक महत्व-पूर्ण हो गया है। उसकी गणना आजकल सर्वोत्कृष्ट निबन्ध-साहित्य में होती है।

———